गीतासर्वस्वम्

(लखनऊ विश्वविद्यालय बी०ए० प्रथम वर्ष के लिए
स्वीकृत पाठ्य-पुस्तक)

सम्पादक

संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रकाशन केन्द्र

डालीगंज रेलवे क्रॉसिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ – 226 020

(☎ : 2323035, 2367314)

गीतासर्वस्वम्

[लखनऊ विश्वविद्यालय बी० ए० प्रथम वर्ष के लिए निर्धारित स्वीकृत पाठ्य पुस्तक]

सम्पादक
संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

प्रकाशन केन्द्र
डालीगंज रेलवे क्रॉसिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ — 226 020
☎ : (0522) 2323035, 2367314

नाम सन्तोष कुमार
विद्यालय लखनऊ विश्वविद्यालय
B.A Pho

प्रकाशक : प्रकाशन केन्द्र,
डालीगंज रेलवे क्रॉसिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ — 226 020
1996-97
मूल्य : बारह रुपये पंचास पैसे (Rs. 12.50) मात्र ।

पुरोवचन

श्रीमद्भगवद्गीता का संस्कृत ही नहीं, विश्व-वाङ्मय में विशिष्ट स्थान है । धर्म, दर्शन, सदाचार तथा संस्कृति के निर्धारण में यह मानदण्ड है । गीता की गणना वेदान्त की प्रस्थानत्रयी में की जाती है । राष्ट्र के नवनिर्माण के लिये इसकी अपरिहार्यता असन्दिग्ध है । इस कर्मयोगशास्त्र का समावेश स्नातकस्तरीय छात्रों के संस्कृत-पाठ्यक्रम में इसी अभिप्राय से किया गया है ताकि वे इसके अध्ययन के माध्यम से अपने कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर हो सकें । अनिश्चय का तमस् उनके जीवन के प्रेय और श्रेय को आच्छन्न न कर सके । प्रेरणा का अजस्र आलोक उन्हें मिलता रहे ।

बी० ए० प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत द्रुतपाठ के रूप में 'गीता-सर्वस्वम्' का संपादन गीता के महत्त्वपूर्ण अंशों का चयन कर किया गया है । प्रयत्न यही रहा है कि गीता की प्रबन्धात्मकता, केन्द्रीय विषयवस्तु तथा ग्रन्थ की गौरव-गरिमा इस संकलन में अविकल रूप से बनी रहे । हम आशान्वित हैं कि युवा-पीढ़ी के लिये यह अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा ।

इसके संपादन में, डॉ० नवजीवन रस्तोगी (रीडर, सं० वि०) तथा डॉ० उमारानी त्रिपाठी (प्रवक्ता, सं० वि०) ने जो योगदान किया है, तदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं । प्रकाशन-केन्द्र के स्वत्वाधिकारी श्री पद्मधर मालवीय तथा उनके आत्मज श्री विवेक मालवीय भी इसके प्रकाशन में किये गये सहयोग के सन्दर्भ में साधुवाद के आस्पद हैं ।

यत्र योगेश्वरो कृष्णः यत्र पार्थो धनञ्जयः ।
तत्र श्रीर्विजयश्चैव ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।

(डॉ० उमेश प्रसाद रस्तोगी)
अध्यक्ष, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग
लखनऊ विश्वविद्याल
लखन
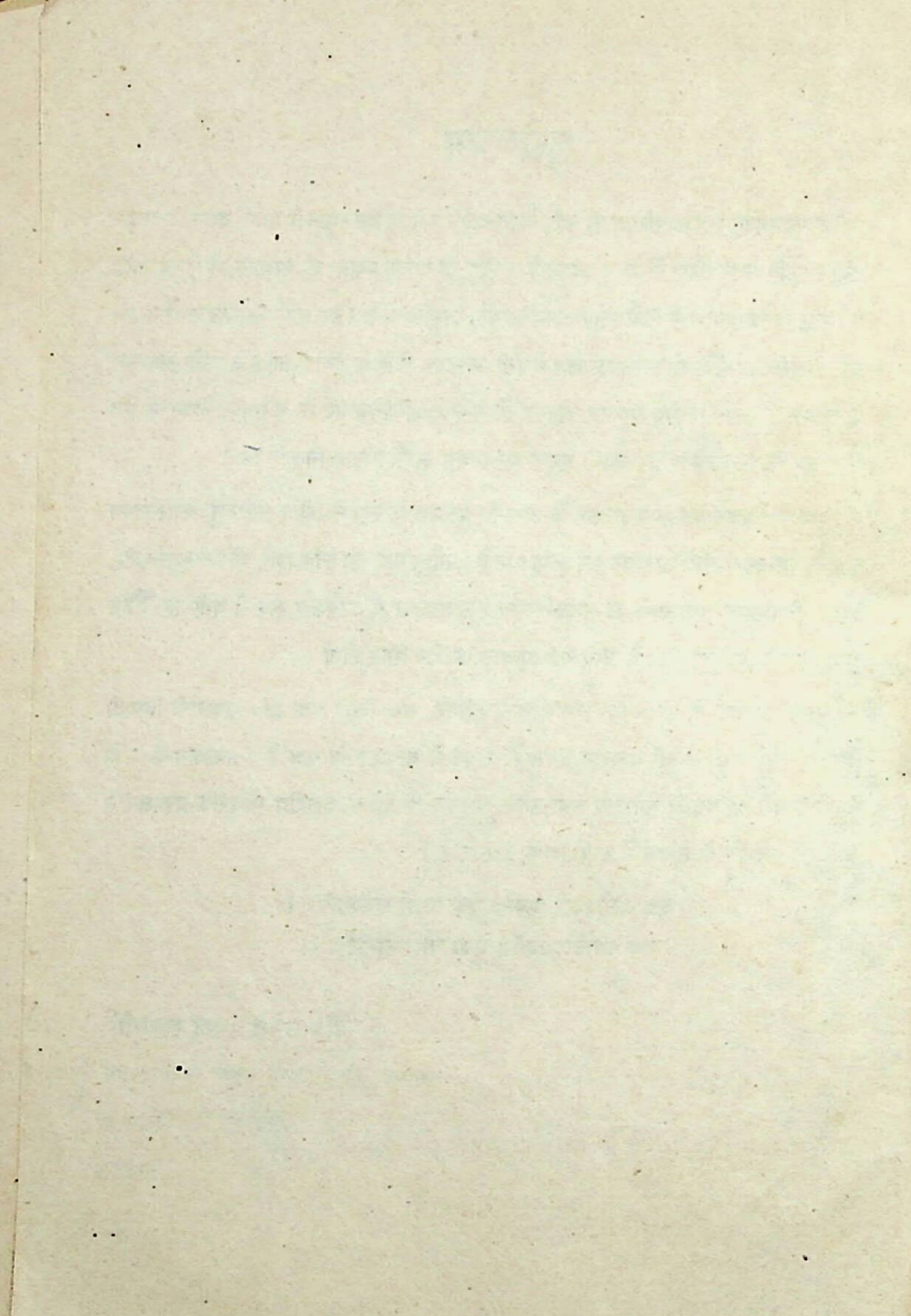
उपोद्घात

जब अर्जुन ने आज से २००० वर्ष से भी अधिक पहले यह प्रश्न पूछा–

कार्यण्यादोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शार्गध मां त्वां प्रपन्नम् ।।

[गीता २.७]

तो संभवतः अर्जुन को भी यह अहसास न होगा कि कृष्ण का उत्तर आगे आने वाली पीढ़िया की सांस्कृतिक चेतना का अग्रलेख बन जायेगा और कृष्ण का उत्तर सुनकर अर्जुन की प्रतिक्रिया में मानो गीता के सम्पूर्ण सांस्कृतिक उत्तरकाल की कृतज्ञ प्रबुद्ध प्रतिक्रिया छिपी हो– जैसे सोती हुई संस्कृति करवट लेकर जाग पड़ी हो–

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ।।

[गीता १८.७३]

स्पष्ट है कि गीता सांस्कृतिक अस्मिता की पहचान कराने वाला ग्रन्थ है । शताब्दियों से भारतीय मनीषा में यह इसी रूप से प्रतिष्ठित है । इसलिये स्नातक कक्षा के विद्यार्थियों के लिये द्रुत पाठ के लिये पाठ्य संकलन की समस्या आई तो उपलब्ध विकल्पों में सर्वोत्तम यही लगा कि सम्पूर्ण गीता का अविकल पाठ बड़ा लगे तो उसके कुछ अंश संगृहीत कर विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत किये जाएँ जिससे भाषा-संस्कार के साथ ही अपनी थाती के परिचायक ग्रन्थ से भी उनका मानसिक सख्य भी सहज रूप में बिना अतिरिक्त श्रम के विकसित होता चले । गीता जैसी कृति से अंश-चयन का काम बहुत कठिन नहीं होना चाहिये था, खास तौर से जबकि ग्रन्थ इतना सरल और परिचित हो। परन्तु यही कारण बन गया कठिनाई का । हर श्लोक इतना अर्थभरा और महिमा-गर्भित है साथ ही उसकी अनुगूंज इतनी मनबसी कि हर छोड़ा हुआ श्लोक अपराध-बोध से ग्रसित करने लगा । अतः इस कुण्ठा से बचने के लिये तीन मानस-दृष्टियाँ रखी गयीं । पहली, मूल ग्रन्थ की प्रबन्धात्मकता का निर्वाह हो । दूसरी, प्रतिपाद्य की अन्विति अक्षुण्ण बनी रहे और तीसरी, मूल ग्रन्थ का केन्द्रीय आग्रह सुरक्षित रहे । "गीता-सर्वस्वम्" गीता का किस सीमा तक प्रतिनिधि संग्रह बन पड़ा है, विद्वान् अध्यापकों का मनस्तोष और सुधी विद्यार्थियों का अनुतोष ही इसका निर्णय करेगा ।

---

१. दीनता से मेरा सहज स्वभाव नष्ट ही गया है । कर्त्तव्य को लेकर मेरी बुद्धि पर परदा पड़ गया है । जो मेरे लिये निश्चितरूप से श्रेयस्कर हो वह मुझे बताओ । मैं तुम्हारा शिष्य हूँ– अपनी शरण आये मुझको सिखाओ ।

मेरा मोह नष्ट हो गया है । अच्युत तुम्हारी कृपा से (अपने कर्त्तव्य का) स्मरण हो आया है । मेरे सारे संदेह समाप्त हो चुके हैं । अब मैं तुम्हारे वचनानुसार काम करूँगा ।

अपने यहाँ गीताओं की लम्बी परम्परा रही है । महाभारत के शान्ति पर्व के अन्तर्गत मोक्षपर्व के कुछ प्रकीर्ण अंशों को भी गीता नाम दिया गया है और उनकी ख्याति पिंगलगीता, शंपाकगीता, मंकिगीता, बोधगीता, हारीतगीता इत्यादि के रूप में है ।[1] इनके अतिरिक्त भी अनेक गीताओं का उल्लेख मिलता है । इनमें भी कुछ तो पुराणों के अंग रूप में मिलती हैं और कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में । शिवगीता पद्मपुराण के अन्तर्गत आती है । ब्रह्मगीता और सूतगीता ये दोनों ही स्कन्दपुराण के अंश हैं । व्यासगीता और ईश्वरगीता कूर्मपुराण के अधीन हैं । गणेश-गीता गणेशपुराण का भाग है । इसी प्रकार एक और ब्रह्मगीता योगवाशिष्ठ के अन्दर पायी जाती है । अवधूतगीता, अष्टावक्रगीता, उत्तरगीता, कापिलगीता के नाम से अनेक स्वतन्त्र गीताएँ मिलती हैं। महाभारत के अश्वमेध पर्व में अनुगीता के नाम से एक और गीता मिलती है । परन्तु गीता कहते ही जो ग्रन्थ स्मृति के फलक पर आ खड़ा होता है वह इन सब गीताओं से भिन्न है । वह है श्रीमदभगवद्गीता । सांस्कृतिक जीवनमूल्य, आध्यात्मिक ज्ञान और कर्म का समन्वय करने वाली मौलिक प्रक्रिया अन्य किसी भी गीता में दिखाई नहीं पड़ती । अन्य गीताएँ एकांगी हैं या अपने उपजीव्य मूल की पिष्ट-पेषिणी । न ही कोई अन्य गीता इस गीता की प्रसिद्धि या समादर का अंशमात्र भी प्राप्त कर सकी है ।

भगवद्गीता भी स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर महाभारत का अंग है । भीष्मपर्व के २५वें से ४२वें अध्याय तक के ग्रन्थांश को लेकर ही वर्तमान गीता आकार धारण करती है । उद्योगपर्व की समाप्ति होते-होते महाभारत युद्ध के प्रारम्भ होने की सारी भूमिका बन चुकती है । भीष्मपर्व में महासमर का प्रारम्भ होता है । सेनाएँ सज जाती हैं । शंख बजने लगते हैं । व्यूह-रचना होने लगती है । यह सन्दर्भ बनता है गीता के उपदेश का । महाभारत की पारंपरीण प्रसिद्धि इतिहास ग्रन्थ के रूप में रही है और पुराणों के साथ इसे वेदों के उपबृंहण का अन्यतम साधन माना गया है-- "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" । परन्तु इतिहास के होने के साथ ही साथ यह आर्ष महाकाव्य है, हमारा यह अहसास धूमिल नहीं होना चाहिये । महाभारत के इस काव्य रूप की चेतना संस्कृत के प्राचीन कवियों को पर्याप्त मात्रा में रही है । यही कारण है कि कालिदास जहाँ आदिमहाकाव्य रामायण और उसके पुण्यश्लोक रचयिता वाल्मीकि को अपना प्रेरणा-स्रोत मानते हैं वहीं संस्कृत गद्य के यशस्वी लेखक बाण कवियों के पितामह व्यास और सर्ववृत्तान्तगामिनी भारती कथा को अपना उपजीव्य मानते हुए श्रद्धा भरे चित्त से प्रणाम करते हैं--

नमः सर्वविदे तस्मै व्यासाय कविवेधसे ।
चक्रे पुण्यं सरस्वत्या यो वर्षमिव भारतम् ।।
किं कवेस्तस्य काव्येन सर्ववृत्तान्तगामिनी ।
कथेव भारती यस्य न व्याप्नोति जगत्त्रयम् ।।

--हर्षचरित, प्रथम उच्छवास, श्लोक ३ तथा ६

इस प्रसंग में सबसे प्रेरक बात तो यह है कि बाण की दृष्टि से महाभारत के आनन्द की

---

१. गीता-रहस्य, (गी.र.) पृ० ३

अपेक्षाकृत वृद्धि का कारण उसमें पाया जाने वाला गीतोपदेश है–

"महाभारतमिवानन्तगीताकर्णनानन्दिततरम्" ।

इस आर्ष महाकाव्य की दृष्टि से और काव्य-दृष्टि से भी गीता का भीष्मपर्व के आरम्भ में संजोया जाना महाकवि व्यास के निबन्धन-औचित्य का परिचायक है । सांस्कृतिक मूल्यों के टकराव की और जीवन-कसौटियों की व्याख्या में आपातिक विरोध के कारण संशयग्रस्त हो हार मान बैठने की स्थिति से उपयुक्त स्थिति गीता के उपदेश की और हो भी क्या सकती है ।

भीष्मपर्व ही गीता के उपदेश का उचित स्थान है इसका आन्तरिक साक्ष्य स्वयं महाभारत में उपलब्ध है । आदिपर्व में जो अनुक्रमणी आई है उसमें ठीक ऐसा ही उल्लेख है–

"पूर्वोक्तं भगवद्गीतापर्वभीष्मवधस्ततः"

–(म०भा० आदिपर्व २.६६)

उसी अनुक्रमणिका में दुबारा भीष्मपर्व के अध्यायों और श्लोकों की संख्या निर्देश कते समय चर्चा आती है कि यहाँ परम् बुद्धिमान् कृष्ण ने मोक्षदर्शक युक्तियों से अर्जुन के मोहजन्य विकार को दूर किया है–

कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः ।
मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः ।।

–(म० भा० आदिपर्व २.२४७)

भगवद्गीता का एक नाम या प्राचीन नाम हरिगीता भी था यह बात भी महाभारत के आन्तरिक आलोचन से पता चलती है–

कथितो हरिगीतासु समासविधिविकल्पितः ।

–(म० भा० शान्तिपर्व ३४८.१०)

अपने गीता-भाष्य के आरम्भ में आचार्य शंकर ने गीता की शलोक संख्या सात सौ मानी है। तब से एक तरह से यह सामान्य धारणा बन गयी है कि गीता में सात सौ श्लोक हैं । फिर भी शब्दशः इस बात को मानने में अड़चन आती है । अधीती विद्वान् इस तथ्य से परिचित हैं कि देश के विभिन्न भागों में गीता के भिन्न-भिन्न संस्करण (recensions) पाये जाते हैं । कश्मीर, दक्षिण-भारत, बंगाल इत्यादि संस्करणों में श्लोक संख्या भिन्न-भिन्न है । फिर भी पाये जाने वाले श्लोकों की न्यूनतम संख्या ७०० और अधिकतम संख्या ७४५ है । चूँकि अलग श्लोकों की संख्या सैकड़ा नहीं लांधती इससे सात सौ की संख्या मानने में सामान्यतः और इस संकलन का उपजीव्य पाठ शांकरभाष्य सम्मत गीता पाठ होने के कारण विशेषतः कठिनाई नहीं आती । मूलतः उपदेशात्मक होने के कारण ग्रन्थ की शैली संवादात्मक है और इसमें श्लोक धृतराष्ट्र का, ४० संजय के, ८४ अर्जुन के तथा ५७५ कृष्ण के हैं । गीता की भाषा तथा छन्दोरचना आर्ष है । काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग ने गीता के उन श्लोकों जो महाभारत में अन्यत्र भी पाये जाते हैं, के आधार पर एवं छन्दोरचना तथा अपाणिनीय प्रयोगों के आधार पर सविसर, प्रतिपादित किया है

कि वेदोत्तर काल और लौकिक संस्कृत के उदय के संधिकाल में रची गयी इस कृति की भाषा की प्रकृति आर्ष है ।[1]

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं भारत की समग्र चिन्तन-धारा के प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में गीता को स्वीकृति मिली है । विद्वत्-गोष्ठियों में चला आने वाला यह आभाणक भारतीय मनीषा के इस बद्धमूल विश्वास की पुष्टि करता है कि यदि गीता का अच्छा अभ्यास हो जाये तो किसी दूसरे शास्त्र को मथने का कोई अर्थ नहीं रहता–

"गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।"

गीता का यह माहात्म्य निर्हेतुक नहीं है । यही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ है जो श्रुति और स्मृति दोनों ही रूपों में प्रतिष्ठित है । ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों का, सम्प्रदायगत विचारभेद के बावजूद भी, यह मानना है कि "अपि च स्मर्यत" (ब्र० सू० २.३.४५) तथा 'योगिनः प्रति च स्मर्यते" (ब्र० सू० ४.२.११) सूत्रों में सूत्रकार गीता का ही स्मरण कर रहे हैं (मिलाइये "यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः" गी० ८.२३) । दूसरी ओर गीता की पुष्पिका में गीता को उपनिषद् कहा गया है– "श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे" । यह पुष्पिका यद्यपि भीष्मपर्व के गीताध्यायों के अन्त में नहीं मिलती परन्तु शंकर के भाष्य के बहुत पूर्व में गीता के स्वतन्त्र ग्रन्थाकार के रूप में स्वीकृत होते होते निश्चय ही अस्तित्व में आ चुकी होगी । केवल इतना ही नहीं "गीता-ध्यान" में जो रूपक बाँधा गया है उसमें गीता सारे उपनिषदों का सार कही गयी है– "सारे उपनिषद् गाएँ हैं, कृष्ण ग्वाले हैं, अर्जुन बछड़े हैं, सुधी श्रोता आनन्द लेने वाला है और गीता दूध है–

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि गीता का पूरा नाम है भगवद्गीता-उपनिषद् । संस्कृत में उपनिषद् शब्द स्त्रीलिंग है अतः शाब्दिक अर्थ होगा "भगवान् के द्वारा गाई गई उपनिषद्" । कालान्तर में प्रयोग-लाघव के प्रवाह में विशेष्यांश 'उपनिषत्' छूटता गया और विशेषणांश 'भगवद्गीता' और फिर गीता शब्द ही सुरक्षित रह गया । गीता- इस कृदन्त विशेषण का स्त्रीलिंग में होना और उसी रूप में परम्परा में अभ्युगत होना उसकी उपनिषद्-रूपता का पुष्कल उपपादक है ।

परन्तु यहाँ एक कठिनाई आती है । गीता की गणना सारी वेदान्त परम्परा द्वारा, बिना मतभेद के, "प्रस्थानत्रयी" में भी की गयी है । प्रस्थानत्रयी अर्थात् उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र और गीता । दूसरे शब्दों में गीता की गणना उपनिषद् से भिन्न रूप में की गयी है जबकि ऊपर गीता और उपनिषद की एकरूपता का अनुसन्धान किया गया है । इसके दो कारण हो सकते हैं । एक तो उपनिषद्

---

१. काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग द्वारा रचित गीता के अंग्रेजी अनुवाद, मैक्समूलर द्वारा संपादित, सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट सीरीज़, भाग ८ की भूमिका ।

मूल स्रोतः स्थानीय हैं और गीता तथा ब्रह्मसूत्र दोनों उपनिषद् के विचारों का सार प्रस्तुत करते हैं। गीता तथा ब्रह्मसूत्र में पारस्परिक भेद उनकी सार प्रस्तुत करने की पद्धति को लेकर है । यह बात बड़ी रोचक लगेगी कि परम्परा में ब्रह्मसूत्र और गीता (महाभारत का अंग होने के कारण) दोनों व्यास की कृतियों के रूप में समादृत हैं यद्यपि दोनों के रास्ते अलग-अलग हैं । ब्रह्मसूत्र का मुख्य लक्ष्य वेदान्त वाक्यों के प्रतीयमान विरोधों का परिहार कर उनकी एकवाक्यता स्थापित करना है। यह समन्वय निवृत्ति-प्रधान है । गीता भी महाभारत के अनुसार, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, मोक्ष को प्रशस्त करने वाली युक्तियों का निदर्शन करती है और इस प्रसंग में गीता और उपनिषदों की प्रयोजनमूलक एकता है । फिर भी यह समन्वय एक तरह से प्रवृत्ति प्रधान है । गीता के चौथे अध्याय में भगवान् ने गीता में प्रतिपाद्य योग की सम्प्रदाय परम्परा का उल्लेख किया है–

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः *(गीता ४.१-३)*

"भगवता गीता' – भगवान् के द्वारा गाया हुआ उपनिषद्– जिस योग का उल्लेख कर रहा है वह प्रधानरूप से भागवतधर्म– भगवान् द्वारा गाया प्रवर्तित धर्म – के बारे में ही होगा । महाभारत के शान्ति पर्व के अन्त में (नारायणीयोपाख्यान के अन्तर्गत) बताई गयी भागवत धर्म की परम्परा गीता में वर्णित परम्परा से बहुत मिलती है–

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ ।
मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ।
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः ।।

(म० भा० शान्तिपर्व ३४८.५१-५२)

ठीक इसके बाद वैशंपायन जनमेजय से कहते हैं कि "इसके अतिरिक्त यतियों का भी (यतीनां चापि) धर्म हमने गीता में बताया है–

यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिविकल्पितः ।।

(वही ३४८.५३)

दो अध्याय पूर्व ही वैशंपायन दो बातें कहते हैं । एक तो यह नारायणीय धर्म हरिगीता में प्रतिपादित किया गया है–

एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिविकल्पितः ।।

(वही ३४८.१०)

दूसरे यह वही भागवत धर्म है जो गीता में भगवान् ने स्वयं किंकर्तव्यविमूढ अर्जुन को समझाया था–

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपांडवयोर्मृधे ।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ।।

(वही ३४८.१०)

तीसरी बात जो वैशंपायन कहते हैं वह बड़ी महत्त्वपूर्ण है । वह यह कि यह नारायणीय धर्म प्रवृत्तिप्रधान है और प्रवृत्ति प्रधान होने पर भी पुनरावृत्ति को नष्ट करने वाला है–

नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः ।।

(वही ३४७.८०-८१)

भारतीय परम्परा में निवृत्ति का अर्थ है जीवन से वैराग्य अर्थात् जीवन के निषेध या कर्म परिहारपूर्वक, जिसे संन्यास कहते हैं, मोक्ष का आसेवन । प्रवृत्ति का अर्थ है आमरण चातुर्वर्ण्य-विहित कर्मों का निष्काम भाव से आचरण । महाभारत में यही प्रवृत्ति-प्रधान धर्म है ।

उपर्युक्त निष्कर्ष की प्रामाणिकता की परख एक अतिरिक्त तथ्य से भी होती है । गीता के तीसरे अध्याय का आरम्भ अर्जुन की भगवान् से शिकायत से होता है– यदि ज्ञान कर्म से बढ़कर है तो फिर तुम मुझे कर्म में क्यों लगा रहे हो ? उत्तर में भगवान् लोक-अवस्थिति के लिये– ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार की निष्ठाओं का प्रतिपादन करते हैं । अर्थात् ज्ञान से भी मोक्ष सधता है और कर्म से भी । सांख्यों की निष्ठा ज्ञान है और योगियों की कर्मयोग–

लोकेऽस्मिन् दुविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेनयोगिनाम् ।। (३.३)

कर्म का आत्यन्तिक निषेध नैष्कर्म्य नहीं देता न ऐकान्तिक सन्यास सिद्धि को (३.४) इसलिए आसक्ति रहित कर्म का निरन्तर आचरण ही परम गति का द्वार है–

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।। (३.१९)

यह ध्यान देने की बात है कि यहां पर जिस योग की बात कही गयी है उससे पातञ्जल योग विवक्षित नहीं है । गीता का कर्मयोग प्रवृत्ति प्रधान है जब कि पातंजल योग निवृत्ति-प्रधान व निरोध-मूलक है । इस प्रकार उपर्युक्त वचनों से तिलक के शब्दों में, "महाभारतकार का यह

---

१. प्रस्तुत विवेचन का आधार अधिकांश में तिलक का युक्तिपूर्ण प्रतिपादन है । देखिये गी. र., पृ० ८-१ ५३०-५३६, ५७६-५८५, ७०३-७०५

अभिप्राय जान पड़ता है कि गीता में अर्जुन को जो उपदेश किया गया है, वह विशेष करके मनु-इक्ष्वाकु इत्यादि परम्परा से चले हुए प्रवृत्ति-विषयक भागवत धर्म ही का है; और उसमें निवृत्ति-विषयक यति धर्म जो निरूपण पाया जाता है, वह केवल आनुषङ्गिक है।''[1] हर अध्याय के अन्त में आने वाली पुष्पिका में ''उपनिषत्सु'' के बाद ''ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'' पद्यवय का प्रयोग तर्कणा की इसी सरणि का अनुमोदन करता जान पड़ता है।

प्रस्थानत्रयी में गीता का दूसरा कारण उपर्युक्त विवेचन से स्वतः प्रवाहित होता है। गीता में वेदान्तवाक्यों के समन्वय का सफल प्रयास होते हुए उससे अतिरिक्त भी कुछ है। इस अर्थ में गीता केवल उपनिषदों का ही नहीं समग्र भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का पका हुआ फल है। यह बात सही है कि गीता के अध्यात्मदर्शन का उपजीव्य उपनिषद्-वाङ्मय है। यहाँ तक कि छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि के तमाम विचार परोक्षरूप में गीता में प्रवेश कर गये हैं और कई श्लोक हूबहू या थोड़े से परिवर्तन के साथ गीता में अपना लिये हैं। उदाहरण के लिये दूसरे अध्याय में आत्मा की अशोचनीयता पर काफी जोर है। इस धारणा का मूल उपनिषदों में है। ''न जायते म्रियते वा कदाचित्'' (२.२०) ''यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'' (८.११) ''इन्द्रियाणि पराण्याहुः'' (३.४०) आदि श्लोक कठोपनिषद् (२.१६, २.१५, ३.१०) में अक्षरशः मिलते हैं। आठवें अध्याय में वर्णित अक्षर ब्रह्म का स्वरूप श्वेताश्वतर, कठ और प्रश्न से लिया गया है। यहाँ तक कि दोनों स्थलों की भाषा में गहरा साम्य है। इसी प्रकार तेरहवें अध्याय में चर्चिच क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेचन खास तौर से श्रेय ब्रह्म का निरूपण ब्रह्मसूत्र, श्वेताश्वतर, ईशावास्य और मुण्डक आदि पर आश्रित है। ''सर्वतःपाणिपादं'' (१३.१३) श्लोक, ''सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'' श्लोकार्ध (१३.१४) श्वेताश्वतर (३.१७) में अक्षरशः प्राप्त है। पन्द्रहवें अध्याय में आया हुआ अश्वत्थ का प्रसिद्ध रूपक ऋग्वेद (१.२४.७) और कठोपनिषद् (६.१) से साफ लिया जान पड़ता है। परन्तु जैसा कि ऊपर ध्यान दिलाया गया है कि उपनिषद् के अलावा भी गीता के अन्य स्रोत हैं। क्योंकि अश्वत्थ वृक्ष का वैकल्पिक निरूपण (१५.२) सांख्य की दृष्टि से हुआ है। कठ आदि उपनिषदों में यद्यपि अव्यक्त, महान्, बुद्धि आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है पर उनका पल्लवन सांख्य पद्धति पर न होकर वेदान्त के अधिक निकट है। छान्दोग्य और बृहदारण्यक में सांख्य का संकीर्तन नहीं हुआ है। उनका स्वर ज्ञान-प्रधान है। जिस रूप में सांख्य हमें ज्ञात है उसके सिद्धान्त सर्वांश में गीता को मान्य नहीं हुए हैं परन्तु सांख्य को उपनिषद् की मूल दृष्टि के अधीन करते हुए ही सांख्य का उपयोग हुआ है। त्रिगुणात्मक प्रकृति से व्यक्त जगत्, गुणोद्रेक के अनुसार, उत्पन्न होता है। पुरुष निर्लेप होकर भी इस प्रकृति के व्यापार का द्रष्टा है। परन्तु इस अंश तक सांख्य की प्रक्रिया से एकतम होकर भी गीता औपनिषदिक ब्रह्मवाद, शांकर ब्रह्माद्वैत नहीं के प्रभाव में पुरुष को परब्रह्म की विभूति अर्थात् उसके अधीन ही मानती है। यही नहीं इस दृष्टि से प्रकृति भी परब्रह्म की ही विभूति है। अर्थात् सांख्य का तत्त्वद्वय का सिद्धान्त तो मान्य है, पर उनकी स्वायत्तता का नहीं।

---

१. गी० र०, पृ० १०

इसी प्रकार गीता उपनिषदों से अलग हटती है माया को लेकर । उपनिषदों में माया का सिद्धान्त नहीं मिलता । श्वेताश्वतर में मिलने वाली माया परम तत्त्व या परमदेव की शक्तिरूप है । उपनिषदों और गीता में यद्यपि निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को लेकर मतै है परन्तु निर्गुण से सगुण के आदिर्भाव के समय गीता उपनिषद् के अविद्मया शब्द को छोड़कर अज्ञान या माया शब्द का प्रयोग करती है। माया की अज्ञानरूपा धारणा शांकर वेदान्त में विशेष परवान चढ़ती है । ऐसा लगता है कि उपनिषदों में माया के स्वरूप विकास की एक अंतर्धारा बह रही है जो यद्यपि किसी भी उपनिषद् में स्पष्ट आकार नहीं ग्रहण कर सकी है पर गीता तक आते आते उसका रूप सुस्थिर हो गया है । इस प्रकार परवर्ती शांकर वेदात में पल्लवित ठोस शास्त्रीय अवधारणा और उपनषदों में ढुलमल विचार-स्फुलिङ्ग के बीच गीता एक आवश्यक सोपान बन जाती है ।

गीता का उपनिषदों से एक महत्त्वपूर्ण भेद भक्तिमार्ग या व्यक्तोपासना को लेकर भी है । यह बात सही है कि सगुणोपासना का प्राचीन उपनिषदों में यत्र-तत्र भरपूर उल्लेख मिलता है । सूय, आकाश, मन, अग्नि, वायु आदि सगुण प्रतीकों में परमात्मा को व्यक्त माना गया है और इन प्रतीकों द्वारा व्यक्तोपासना का विधान किया गया है । रूद्र, विष्णु, अच्युत तथा नारायण ये सब परमात्मा के रूप माने गये हैं । परन्तु इन सारे प्रतीकों में मानवरूपधारी ईश्वर की उपासना उपनिषदों में नहीं दिखाई देती । श्वेताश्वतर में भक्ति की धारणा 'यस्य देवे परा भक्तिः'' (६.२३) आदि वाक्यों में स्फुट रूप से मिलती है । परन्तु यह भक्ति मानवाकृति या मानवदेहधारी परमेश्वर की है, यह बात इतने निश्चय से नहीं कही जा सकती । ठीक इसके विपरीत गीता में सगुण प्रतीकों को मानवदेहधारी ब्रह्म की विभूतियों या अंश के रूप में स्वीकार किया गया है । पौराणिक अवतारवाद की पीठिका में कृष्ण, विष्णु या वासुदेव की यह भक्ति वैदिक सगुणोपासना का उपबृंहण है जिसमें प्राचीन भागवत, धर्म या नारायणीय धर्म की देहाकार भागवत उपासना गीता के माध्यम से वैदिक मार्ग में प्रवेश करती है । पाणिनि के सूत्र ''भक्तिः'' (अष्टाध्यायी ४.३.९५) और ''वासुदेवार्जनाभ्यां नुन्'' (४.३.९८) यह बताते हैं कि क्षत्रिय विग्रहधारी कृष्ण की भक्ति का मार्ग ईसा से ५ या ६ शताब्दी पहले प्रतिष्ठित हो चुका था और इस प्रक्रिया में गीता का असामान्य योगदान रहा है ।

वैदिक सगुणोपासना का मानव-विग्रह धारी ईश्वर की भक्ति के रूप में यह विकास गीता की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता को रेखांकित करता है, जो उपनिषदों के मुख्य स्वर से भिन्न प्रतीत होता है । वह है– भक्ति का कर्मयोग तथा ज्ञान योग के साथ समन्वय । ईशावास्य आदि उपनिषदों में यद्यपि निरन्तर कर्म करने पर आग्रह अवश्य दिखाई देता है परन्तु उपनिषदों का मुख्य रुझान कर्म को गौण मानने में है । वर्णव्यवस्थानुमोदित कर्म या श्रौतकर्म आदि का प्रयोजन चित्तशोधन तक ही सीमित है । परन्तु गीता ब्रह्मज्ञान, वर्णानुसारी कर्म तथा संसारी कर्मों के आपातिक विरोध का परिहार करती हुई कर्मयोग को स्थापित करती हुई भक्ति के साथ उसकी एकसूत्रता का प्रतिपादन करती है । सच पूछा जाये तो भगवान् के प्रति अनन्य भाव से समर्पित कर्म और अनासक्तिपूर्वक कर्म तथा ब्रह्मज्ञाननिष्ठा से भास्वर स्थित प्रज्ञा सबके पीछे एक ही जीवनदृष्टि का उन्मेष झलकता है ।

जैसा कि हम प्रारम्भ में कह चुके हैं कि भारतीय अध्यात्मचिन्ता के क्षेत्र में गीता का उदय एक क्रान्तिकारी घटना है । प्रस्थानत्रयी में गीता की परिगणना और उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्रों के

साथ उसका अन्तर्विनिमय एक ओर वैचारिक अखंडता और दूसरी ओर सैद्धान्तिक स्वायत्तता को स्थापित करता है । गीता की समन्वय दृष्टि एक ऐतिहासिक अनिवार्यता की तुष्टि करते हुए नजर आती है । गीता के तेरहवें अध्याय का चौथा श्लोक है–

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदेश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।

इसका विश्लेषण करते हुए तिलक उपर्युक्त निष्कर्ष पर हमें लाते हैं । उनका कहना है "यद्यपि यह बात सच है कि भागवतधर्म का कर्म प्रधान भक्तितत्त्व भगवद्गीता में लिया गया है । तथापि गीता का यह भी सिद्धान्त है कि जीव वासुदेव से उत्पन्न नहीं हुआ । किन्तु वह नित्य परमात्मा का ही "अंश" है (गी० १५.७) । जीवविषयक यह सिद्धान्त मूल भागवतधर्म से नहीं लिया गया। इसलिये यह बतलाना आवश्यक था, कि इसका आधार क्या है ? क्योंकि यदि ऐसा न किया जाता, तो सम्भव है कि यह भ्रम उस्थित हो जाता, कि चतुर्व्यूह भागवतधर्म के प्रवृत्ति-प्रधान भक्ति तत्त्व के साथ ही साथ जीव की उत्पत्तिविषयक कल्पना से भी गीता सहमत है । अतएव क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार में जब जीवात्मा का स्वरूप बतलाने का समय आया, तब– अर्थात् गीता के १३ अध्याय के आरम्भ में ही– यह स्पष्ट रूप से कह देना पड़ा, कि–

"क्षेत्रज्ञ के अर्थात् जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में हमारा मत भागवत धर्म के अनुसार नहीं; वरन्, उपनिषदों में वर्णित ऋषियों के मतानुसार है ।"और फिर उसके साथ ही साथ स्वभावतः यह भी कहना पड़ा है, कि भिन्न-भिन्न ऋषियों ने भिन्न-भिन्न उपनिषदों में पृथक्-पृथक् उपादन किया है । इसलिये उन सबकी ब्रह्मसूत्रों में की गई एकवाक्यता (ब्र०सू० २.३.४३) ही हमें ग्राह्य है । इस दृष्टि से विचार करने पर यही प्रतीत होगा कि भागवत धर्म के भक्ति मार्ग का गीता' में इस रीति से समावेश किया गया है, जिससे वे आक्षेप दूर हो जाये, कि जो ब्रह्मसूत्रों में भागवत धर्म पर लाये गये हैं ।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं अपने पितृ-ग्रन्थ महाभारत की तरह गीता की परम्परा भी बड़ी प्राचीन रही है । गीता के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भिक श्लोकों (४.१-४) से स्पष्ट है कि गीता में वर्णित योग "पुरातन योग" है जो विवस्वान् मनु को बताया गया । सम्भवतः वही मूल गीता रही होगी । निश्चय ही मूल गीता की ऐतिहासिकता का निर्णय कठिन कार्य है । परन्तु वर्तमान गीता के सम्बन्ध में अवश्य कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है । वर्तमान गीता ईसा से ६०० वर्ष पूर्व अस्तित्व ग्रहण कर चुकी थी, इस बात में संदेह नहीं रह गया है । गीता चूंकि महाभारत का अंश है, इसलिये एक व्यक्ति की रचना होने के नाते यह कहना उचित होगा कि "सामान्यतः जो महाभारत का काल है वही काल गीता का भी है । यहाँ पर उन साक्ष्यों का उल्लेख अप्रासंगिक होगा जो महाभारत के काल निर्णय के लिये दिये गये हैं । परन्तु कतिपय उन साक्ष्यों का लेखा-जोखा किया जा सकता है जिनका सम्बन्ध साक्षात् गीता से है । गीता का उल्लेख, हम देख चुके हैं, ब्रह्म सूत्रों में स्मृति-ग्रन्थ के रूप में किया गया है और गीता में ब्रह्म सूत्रों का उल्लेख हमने ठीक ऊपर देखा है । यों तो इस साक्ष्य में अन्योन्याश्रय दोष है परन्तु रचनाकार की एकता को यदि प्रमाणित माना जाये तो ब्रह्मसूत्र और गीता का काल एक ही ठहरता है । भारतीय दर्शन के सूत्र ग्रन्थों के

नणयन का काल सामान्यतः ईसा से ५००-६०० वर्ष पूर्व माना जाता है। वर्तमान गीता के समय के विषय में दूसरा पुष्ट प्रमाण बौधायन गृह्य सूत्र में मिलता है। वहाँ (बौधायनगृह्यसूत्र २.२२.९) गीता के नवें अध्याय का २६वां श्लोक "तदाह भगवान्" कहकर उद्धृत किया गया है–

"देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यान्मनसा वाचयेदिति। तदाह भगवान्-पत्रं पुष्पं फलं तोय यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ इति।"

इसी प्रकार वहीं के पितृमेधसूत्र के दूसरे प्रश्न का आरम्भ इस वाक्य से होता है–

"जातस्य वै मनुष्यस्य ध्रुवं मरणमिति विजानीयात्"

तस्माज्जाते न प्रहृष्येन्मृते च विषीदेत्।"

इसमें गीता के प्रसिद्ध श्लोक (२.२७) की छाया साफ झलकती है–

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥"

ब्यूहलर के अनुसार बौधायन का काल आपस्तम्ब से कम से कम १०० वर्ष पूर्व होगा और आपस्तम्ब का समय ईसा से कम से कम ३०० वर्ष पूर्व अवश्य होना चाहिये[१]। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् शंकर बालकृष्ण ने बौधायन का समय शक से ४०० वर्ष पूर्व निश्चित किया है[२]। इसी प्रकार बौद्धों के महावग्ग (५.१.२७) में निर्वाणवस्था का प्रतिपादन करते हुए जिस शब्दावली का प्रयोग किया गया है– "कतस्य पटिचयो नत्थि करणीयं न विज्ञति" वह गीता के संन्यास मार्ग के प्रतिपादक "तस्य कार्यं न विद्यते" वाक्य से अर्थ में ही नहीं शब्द में भी एक है।

इन प्रमाणों के बल पर ईसा के ५००-६०० वर्ष पूर्व गीता के वर्तमान संस्करण का अस्तित्व मानने में शंका नहीं रहती।

गीता भारतीय अध्यात्म-विद्या और संस्कृति का सर्वाधिक मान्य और लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि इसकी ३००० से अधिक टीकाएँ तथा भाष्य तथा अनुवाद प्राप्त होते हैं। ये टीकाएँ न केवल संस्कृत में बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं में, सभी महत्त्वपूर्ण विदेशी भाषाओं जिनमें सेमिटिक परिवार की फारसी आदि भाषाएँ शामिल हैं, में मिलती हैं। भारत में प्रस्थानत्रयी का अंग होने के नाते गीता की नियति वही रही है जो उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों की रही है। अपने मत की आप्तता सिद्ध करने के लिये भारत के प्रधान दार्शनिक संप्रदाय अपने मन्तव्यों की उपस्थिति गीता में ढूँढते रहे हैं और बेहिचक कहते आये हैं कि वे वही कह रहे हैं जो गीता कह रही है। और फिर जोर देकर कहते हैं कि गीता वही कहती है जो वे कह रहे हैं। इसका स्वाभाविक दुष्परिणाम यह हुआ है कि पुराने टीकाकारों द्वारा अपने-अपने सम्प्रदाय

---

१. सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट सीरीज़, वॉल्यूम २, भूमिका पृ० ५२; और भी देखिये वही खण्ड १४, भूमिका, पृ० ५३

२. भारतीय ज्योतिःशास्त्र, मूल मराठी संस्करण, पृ० १६२

की सिद्धि के लिये गीता के श्लोकों के अर्थों को काफी खींचा तानी का सामना करना पड़ा है। इससे एक ओर लाभ हुआ है– गीता के अर्थों को बड़ा विस्तार मिला है, दूसरी ओर हानि यह हुई कि कई बार वास्तविक अर्थ या सहज अर्थ हमसे छूट गया है। यों तो ऐसे श्लोकों की संख्या बहुत है जिन्हें खींचातानी का भाजन बनना पड़ा है पर ४/५ श्लोक विशेषतः इस विसंवाद के शिकार हुए हैं। उदाहरण के लिये तीसरे अध्याय के १७ से १६,[1] छठे का तीसरा[2] और अठाहरवें का दूसरा श्लोक[3] लिया जा सकता है। गीता के प्राचीन भाष्यों में सबसे पहले शांकरभाष्य का स्मरण आता है। शंकराचार्य (७८८ ई०) की निष्ठा संन्यासयोग के प्रति सर्वविदित है। उनकी दृष्टि में गीता का प्रधान प्रतिपाद्‌य है कि सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञान से ही मोक्ष सम्भव है। शंकर के पूर्व गीता का अर्थ ज्ञान और कर्म के समुच्चय की शब्दावली में किया गया। अर्थात्‌ ज्ञान और कर्म के समुच्चय से मोक्ष मिलता है। भास्कर कण्ठ का भाष्य अब उपलब्ध है और उसका स्वर वही है। यह कहना कठिन है कि यह भास्कर शंकर से प्राचीनतर हैं। पर यह निश्चित कहा जा सकता है कि इनकी परम्परा प्राचीन है और अभिनवगुप्त तक इनका सादर उल्लेख करते हैं। यहाँ पर एक बात का उल्लेख आवश्यक होगा। वे मनीषी भी, जो प्रस्थानत्रयी में विश्वास नहीं करते और औपनिषदिक श्रुति को अन्तिम सत्य नहीं मनते, गीतावचन को पूर्ण श्रद्धा और प्रामाण्य-निष्ठा से ग्रहण करते हैं। आगम परम्परा के मूर्धन्य आचार्य वसुगुप्त (८००-८५० ई०) की वासवी टीका और अभिनवगुप्त (६५० ई०) का भगवद्‌गीतार्थ-संग्रह इस परम्परा की प्रतिनिर्धि टीकाएँ हैं। काश्मीर के त्रिकाचार्यों की दृष्टि घोर अद्‌वैतवादी है और ज्ञान, कर्म तथा भक्ति की आन्तरिक एकरूपता में विश्वास करती है। इसी के साथ भास्करकण्ठ की परम्परा में रामकण्ठ जो कि अभिनव के थोड़ा बाद आते हैं, की सर्वतोभद्र टीका है जो एक प्रकार से भास्करकण्ठ और अभिनव के बीच का सेतु है क्योंकि सर्वतोभद्र का ज्ञानकर्म-समुच्चय शुद्ध द्‌वैतवादी न होकर अद्‌वैत की ओर झुका हुआ है। आगम मार्ग से जब हम वापस वैदिक परम्परा की ओर आते हैं तो शंकर के बाद जिस भाष्य ने सबसे अधिक ख्याति अर्जित की है वह है उभयवेदान्ती रामानुज का १०१६ई०), जो तत्त्वज्ञान की दृष्टि से विशिष्टाद्वैत और उपासना की दृष्टि से नारायण-भक्ति में

---

१. यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्‌यते ।। –३.१७
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।। –३.१८
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।
असक्तो ह्‌याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।। –३.१६

२. आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।। –६.३

३. काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।। –१८.२

निष्ठा रखते हैं । गीता के अनुसार कर्मनिष्ठा, ज्ञाननिष्ठा को जन्म देती है । निम्बार्क (११४६ ई०) के अनुयायी केशव काश्मीरिक ने द्वैताद्वैतवाद की दृष्टि से गीता पर तत्त्वप्रकाशिका नामक टीका की रचना की, जिसमें उन्होंने अद्वैतपर्यवसायी भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया है । लगभग इसी के आस-पास द्वैत मार्ग के विश्रुत आचार्य मध्व (११६८ ई०) ने अपना भाष्य लिखा जिसके अनुसार गीता की दृष्टि में निष्काम कर्म केवल साधन है । अन्तिम निष्ठा यदि कोई है तो वह भक्ति है । इस बीच में यद्यपि गीता-भाष्य अविरल लिखे जाते रहे हैं । परन्तु साम्प्रदायिक महत्त्व की दृष्टि से वल्लभ (१४७६ ई०) ने अपने भाष्य में शुद्धाद्वैतमत का पोषण किया । उनके मत में भगवद्भक्ति ही मोक्ष का प्रमुख साधन है और यह भक्ति कृष्ण के अनुग्रह से प्राप्त होती है । इसे ही पुष्टि कहते हैं । इस प्रकार गीता-भाष्यों की एक दीर्घ, चिन्तना-प्रधान परम्परा रही है । इन प्रधान आचार्यों के अपने अपने सम्प्रदायों में भी महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गई हैं । जैसे शंकर के अद्वैत-प्रस्थान में आनन्दगिरि तथा मधुसूदन सरस्वती की टीकाएँ । वल्लभ के पुष्टि-संप्रदाय में तत्त्वदीपिका नाम की प्रसिद्ध टीका लिखी गयी । इन सबमें सम्बद्ध सम्प्रदाय के सूक्ष्मतर विन्दुओं का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है । साम्प्रदायिक आचार्यों की गणना करते समय हमें एक नाम का और स्मरण रखना चाहिये । वह है सन्त ज्ञानेश्वर (१२७१ ई०) की ज्ञानेश्वरी टीका । यों तो सन्त ज्ञानेश्वर वेदान्ती थे पर उनकी निष्ठा नाथ पंथ के हठ-योग के प्रति थी । उनकी दृष्टि में हठ-योग मोक्ष प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग है और इसकी प्रेरणा उन्हें गीता के प्रसिद्ध श्लोक

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।" (गीता ४.४६)

से मिली है । ज्ञानेश्वरी गीता की विषयवस्तु का षडध्यायत्रयी में विभाजन करती है । उन्होंने पहले छह अध्यायों को कर्म, दूसरे छह को भक्ति और अन्तिम छह को ज्ञानपरक माना है । आधुनिक काल में भी गीता पर कुछ महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखे गये हैं जो क्लासिक बन गये हैं । इनमें अरविन्द घोष और तिलक का नाम प्रमुख है । तिलक का गीता-रहस्य तो शोध, ज्ञान और वैज्ञानिक अनुसंधित्सा का मानदण्ड बन गया है । इन विद्वानों की दृष्टि में गीता जैसे ग्रन्थ के अर्थानुसन्धान में किसी भी साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रतिबद्ध होना न्यायोचित नहीं है । उसके आन्तरिक स्वारस्य के आस्वाद के लिये अप्रतिबद्ध, तटस्थ, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक पद्धति से आकलन आवश्यक है। साथ ही चिरन्तन सांस्कृतिक मूल्यों के साथ समसामयिक युग-बोध के समन्वयन की पृष्ठभूमि में इस अनुशीलन की सार्थकता बढ़ जाती है । यहाँ पर गीता पर किये गये समस्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का आकलन सम्भव नहीं है । निश्चय ही अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ, कुछ अज्ञान से और कुछ समयाभाव से, छूट गयी होंगी । हमारा प्रयोजन गीता के विद्यार्थी को गीता की निरवधि महिमा, व्यापक प्रसिद्धि और दूरव्यापी प्रभाव का परिचय देना भर है ।

गीता के ७०० (या अधिक) श्लोकों को विषयवस्तु को अठारह अध्यायों में बाँटा गया है । इन अध्यायों का वैशिष्ट्य और केन्द्रीय प्रतिपाद्य का पता इनके नामों से चलता है जो सम्बद्ध अध्याय के अन्त में आने वाली पुष्पिका से पता चलता है । चूँकि ये पुष्पिकाएँ महाभारत के भीष्मपर्व में नहीं मिलतीं इससे लगता है कि यह नामकरण तब किया गया होगा जब गीता को

महाभारत से निकालकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में जन मानस में प्रतिष्ठा मिली होगी । पर यह काम भी निश्चय ही महाभारतकाल के आस-पास या निकट परवर्ती काल में हुआ होगा । ये अध्याय इस प्रकार हैं–

अनुक्रम	अध्याय का नाम
प्रथम	अर्जुनविषादयोग
द्वितीय	सांख्ययोग
तृतीय	कर्मयोग
चतुर्थ	ज्ञानकर्मसंन्यासयोग
पंचम	संन्यासयोग
षष्ठ	ध्यानयोग
सप्तम	ज्ञानविज्ञानयोग
अष्टम	अक्षरब्रह्मयोग
नवम	राजविद्याराजगुह्ययोग
दशम	विभूतियोग
एकादश	विश्वरूपर्शनयोग
द्वादश	भक्तियोग
त्रयोदश	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग
चतुर्दश	गुणत्रयविभागयोग
पंचदश	पुरुषोत्तमयोग
षोडश	दैवासुरसंपद् विभागयोग
सप्तदश	श्रद्धात्रयविभागयोग
अष्टादश	मोक्षसंन्यासयोग

सारे अध्यायों के नामों में वैविध्य होते हुए भी सभी में इस अर्थ में एकरूपता है कि सभी योगपदान्त हैं । अर्थात् गीता को पारम्परिक दृष्टि से योग-शास्त्र के रूप में ग्रहण किया गया है । औपनिषदिक ब्रह्मविद्या से उसके अभेद बताने का अर्थ है कि यहाँ योग की अवधारणा पातंजल योग की अवधारणा से एक नहीं है । यदि योग का अर्थ स्पष्ट हो जाए तो गीता के मूल अभिप्राय तक पहुँचना कठिन नहीं होगा ।

जैसे गीता भीष्मपर्व का अंग है उसी प्रकार अनुगीता अश्वमेध पर्व का अङ्ग है और अर्जुन के आग्रह पर कृष्ण के द्वारा सुनाई गयी है । अनुवर्ती कालक्षण में कही जाने के कारण इसे अनुगीता कहा गया है । अनुगीता में एक वाक्य आता है–

"प्रवृत्तिलक्षणो योगः ज्ञानं संन्यासलक्षणु ।" (म० भा०, अश्व०, ४३.२५) अष्टावक्रगीता एक पग आगे जाती है और प्रवृत्ति का पार्यन्तिक फल निवृत्ति में पाती है--

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरूपजायते ।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी ।।

गीता की निरुक्ति-- "भगवता गीता" का विशदन करते समय हमने देखा था कि परम्परा की एकता का आश्रय लेने पर भागवतधर्म और गीताधर्म का अभेद सहज सिद्ध होता है । भागवतधर्म की निष्ठा भी प्रवृत्तिपरक होने पर भी आवागमन का उच्छेद करती है । शान्तिपर्व के इस श्लोक को दुहराना प्रासंगिक होगा--

नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्तिदुर्लभः ।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः ।।

इससे स्पष्ट है योग है प्रवृत्तिरूप । गीता की मूल संवेदना इसी प्रवृत्तिलक्षण नारायणीय या भागवत धर्म का वरण करने में है । गीता की यह मौलिक आन्तरी चेतना की छाप उसके प्रत्येक सिद्धान्त में स्पष्ट है । नारायणीय धर्म को प्रवृत्तिप्रधान कहने का तात्पर्य है उसमें कर्म प्राधान्य को स्वीकार करना । भागवतधर्म में जो निष्काम प्रवृत्ति-तत्त्व है वही गीता में नैष्कर्म्य की संज्ञा से मुखरित हुआ है । फलितार्थ है कि मात्र वासुदेव भक्ति ही भागवत धर्म का एकमात्र लक्षण नहीं है । अपितु उसका आदर्श है भगवान् के प्रति अनन्य समर्पण बुद्धि रखते हुए भी युगधर्म के (प्रकृत में चातुर्वर्ण्य के) अनुसार युद्ध आदि व्यावहारिक कर्म करते रहना[१] । गीता में यह बात दो तरह से कही गयी है । एक तो व्यक्ति को आत्मधर्म या आत्म-कर्त्तव्य को करने का उपदेश देकर और दूसरे समाज के लिये अपनी भूमिका के अनुसार मानक आचरण उपस्थित कर । गीता इन दोनों का समन्वयन इस प्रकार करती है कि गीता का केन्द्रीय आग्रह केवल व्यावहारिक धर्म-अधर्म के निर्णय में ही नहीं है बल्कि उसके अलावा कार्य-अकार्य-व्यवस्था के समंजस निरूपण में भी है । प्रथम इस प्रकार की प्रवृत्ति हम पाते हैं जब धर्माधर्म के सम्बन्ध में क्षात्र धर्म में प्रवृत्ति के लिये अर्जुन का निरन्तर उद्बोधन किया जाता है-- जैसे

(१) तसमात् युध्यस्व भारत । (२.१८)
(२) तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः । (२.३७)
(३) तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर । (३.१६)
(४) युध्यस्व विगतज्वरः (३.३०)
(५) कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम् । (४.१५)
(६) मामनुस्मर युध्य च । (८.७)
(७) तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ । (११.३३)

---

१. ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि । --गीता १६.२४

इसी भाँति दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति हम पाते हैं जब गीताकार कार्याकार्य के मूल्यवत्तर प्रश्न को उठाते हैं । अपने कर्म से लोकसंग्रह करना ज्ञानी पुरुष का स्वाभाविक लक्षण है–

(१) लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।–(३.२०)

(२) कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् । (३.२५)

आचार्य शंकर जैसा ज्ञानमार्गी भी लोकसंग्रह की जो व्याख्या करता है (लोकस्य उन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणम्) उससे ज्ञानी के लिये भी कोई विकल्प नहीं रहता । कार्याकार्य के निर्णय की कसौटी ही है लोकस्थिति का संरक्षण ।

इस विवेचन से शायद इस निर्णय पर पहुँचना कठिन न होगा कि गीता में निष्काम कर्मयोग की धारणा का विकास तीन सन्दर्भों में होता है । पहला सन्दर्भ है सामाजिक-दार्शनिक (Socio-philosophical) । इस सन्दर्भ में वर्णधर्म की मीमांसा होती है और यागीय-व्यवस्था के अन्तर्गत कर्म की भी । देश, काल और संस्कृति के सन्दर्भ में व्यक्ति से समाज की कतिपय अपेक्षाएँ होती हैं । दूसरा सन्दर्भ है महाभारत का अपना सन्दर्भ । जहाँ महाभारतीय जीवन मूल्यों के आलोक में निर्णय की दुविधा में व्यक्ति की स्वयं अपने से होने वाली अपेक्षा के परिप्रेक्ष्य में कर्म का निर्धारण होता है । स्वधर्म ही कर्म है । कर्मवैमुख्य अपराध है–

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । (३.३५)

तीसरा स्वयं सन्दर्भ है पराक्रामी (transcendental) सन्दर्भ– जहाँ निःसंग कर्म स्वयं अपने में मूल्य बन जाता है, वहाँ समता की वृत्ति ही कर्म बन जाती है–

(१) योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।। (२.४८)

(२) तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।। (२.५०)

(३) मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।। (३.३०)

इसीलिये गीता के यौक्तिक पर्यवसान में योग की पराकाष्ठा को उत्कृष्ट कर्मसंधान से जोड़ दिया गया है । सच पूछा जाए तो योग की पार्यन्तिकता से कर्मानुसन्धि का उत्कर्ष-नैरन्तर्य स्वतः प्रवाहित होता है जिसमें लोक का अभ्युदय और निःश्रेयस् अजस्र प्रतिफलित होता रहता है–

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।। (१८.७८)

वस्तुतः गीता में अर्जुन ने जो प्रश्न उठाये हैं और कृष्ण ने जो समाधान दिये हैं वे वस्तुतः सांस्कृतिक संकट के क्षण में मार्ग खोजते एक राष्ट्र के द्वारा उठाये गये प्रश्न हैं । इसी अर्थ में गीता हमारी सांस्कृतिक चेतना का चिरन्तन अग्रलेख बनती है और इसी अर्थ में उसकी आज भी प्रासंगिकता है । किसी भी राष्ट्र के सामने तभी ऐसे प्रश्न उठते हैं जब जीवन और इतिहास की परिस्थितियाँ अनिर्णय की जटिलता से दोराहे पर आकार खड़ी हो जाती हैं । महाभारत में वर्णधर्म की मीमांसा है और मनुष्यमात्र के लिये आवश्यक धर्म तथा नैतिक गुणों का भी निरूपण हुआ है। महाभारत में मौलिक प्रश्न उठाया गया है कि जीवन में परम श्रेय की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति या कर्म

का मार्ग श्रेष्ठ है या निवृत्तिमूलक कर्महीनता का । यह प्रश्न शान्ति पर्व में युधिष्ठिर उठाते है और भगवद्गीता में अर्जुन ! अर्जुन युद्ध के ठीक पहले लोक स्थिति के विनाश की आशंका से ग्रस्त होकर यह प्रश्न उठाते हैं और युधिष्ठिर युद्धजनित निर्वेद की वेदना से विषण्ण होकर । रोचक बात है कि दोनें जगह मूल उत्तर का स्वर एक ही है । भीष्म कहते हैं-- अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है और कर्म न करने वाले से बढ़कर और कोई पापी नहीं है--

"कृतमेवाकृताच्छ्रेयो न पापीयोऽस्त्यकर्मणः ।" (शान्ति, ७५.२६)

गीता में अर्जुन की वास्तविक चिन्ता है वर्णधर्म अर्थात् युद्ध से होने वाली एक सांस्कृतिक जीवन शैली और राष्ट्र के संस्थागत जीवनमूल्यों की हत्या । राज्य हुआ और बन्धुनाश । राज्यसुख और कुलक्षय । राज्यसुख और सामाजिक ढाँचे के उच्छेद से उसके विभिन्न स्तरों की विशेषताओं का अपलाप । राज्यसुख और नैतिक व्यवस्था का चरमरा कर ढह जाना । अर्जुन के माध्यम से उत्तर तलाशती सं स्कृ ति मानो भ्र ान्त हो कर सिर पर हाथ रख बै ठ जाती है । रो चक बात कि संस्कृति के अवचेतन से जो उत्तर उपजता है वह ठीक वही है जहाँ से संशय उपजा है । कृष्ण कहते हैं कर्म करने से यदि लोकनाश को लेकर भयभीत हो तो जान लो कि कर्म न करने से जनस्थिति नाश की सम्भावना ज्यादा गहरी है--

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।। (३.२४)

कृष्ण का मानना है कि वस्तुतः लोक-रक्षा कर्म से भागने में नहीं है बल्कि संतुलित कर्म से है और मौलिक जीवन मूल्यों के साथ जीवन की वरीयताओं के समन्वय द्वारा तात्कालिक चुनौतियों को साहस के साथ स्वीकार करने में है । देखा जाए तो आज हमारे राष्ट्रीय और जातीय जीवन के समक्ष अस्तित्व का संकट और मूल्यों का संघर्ष उसी प्रकार से गहरा रहा है । सम्भवतः इस सांस्कृतिक संकट का उत्तर गीता के मौलिक समाधान में निहित है-- मौलिक जीवन सत्यों के साथ समझौता किये बिना, लिप्सा और दैन्य से मुक्त होकर चुनौती स्वीकार करने में है--

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोस्त्वकर्मणि ।।" (२.४७)

वस्तुतः आज का संकट जीवनमूल्यों का संकट न होकर चरित्र का संकट है, जो घोर स्वार्थबुद्धि से उपजा है । असंग बुद्धि या समता-बुद्धिपूर्वक कर्म के अतिरिक्त राष्ट्र और संस्कृति के बचाव का कोई विकल्प नहीं है । ऐसे क्षण गीता जैसा ग्रन्थ हमारे पास है यही हमारा बड़ा संबल है ।

x x x

"गीता-सर्वस्वम्" के संकलन के पीछे जैसा कि हम कह चुके हैं, यही दृष्टि रही है कि गीता की मूल भावना छात्र के कोमल मन में अविकल संक्रान्त हो जाए । मूल संस्कृत पाठ हिन्दी छाया से अनुगत है और जहाँ आवश्यक लगा है वहाँ संक्षिप्त पाद-टिप्पणियाँ दी गयी हैं । शब्द या वाक्य के अर्थ को लेकर संशय, कठिनाई या अनेकार्थता की स्थिति में शांकर भाष्य का अनुगमन किया गया है । यहाँ पर गृहीत पाठ गीता-प्रेस सम्मत है और श्लोक-संख्या में उसी का निर्देश किया गया है ।

***

गीता सर्वस्वम्

गीता सर्वस्वम्

संकलन एवं अनुवाद

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।। १/१

(धृतराष्ट्र ने पूछा) संजय ! पुण्यभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्रित मेरे और पाण्डु के युद्ध के लिये उत्सुक पुत्रों ने क्या किया ?

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।। १/२१

(संजय बोला) राजन् ! तब (युद्धक्षेत्र में खड़े हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों को देखकर) अर्जुन ने इन्द्रियों के स्वामी (हृषीकेश) श्रीकृष्ण से यह वचन कहा– अच्युत ! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिये ।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।

उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ।। १/२५

(तब श्री कृष्ण ने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करके) भीष्म, द्रोण तथा समस्त राज़ाओं के समक्ष कहा - पार्थ ! एकत्र हुए इन कौरवों को देख लो ।

कृपयापरयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।। १/२८

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।। १/२६

(स्वजनों को देखकर) अत्यन्त दीनता से भरकर दुःखी होते हुए उस अर्जुन ने कहा– कृष्ण! युद्ध के लिये उतावले उपस्थित इन स्वजनों को देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हो रहे हैं और मुख सूख रहा है तथा मेरा शरीर काँप रहा है और मेरे रोएँ खड़े हो रहे हैं ।।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।

कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।। १/३८

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये (कौरव) लोग कुल के नाश से उत्पन्न दोष को और मित्रों के साथ द्रोह करने में होने वाले पाप को नहीं देख पा रहे हैं ।।

दोषैरेते कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।। १/४२

(क्योंकि कुलक्षय से जनित) वणसङ्करता को उत्पन्न करने वाले दोषों से कुलहन्ताओं के ये सनातन कुल धर्म तथा जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं ।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।

यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।। १/४५

अहो ! खेद का विषय है कि हम लोग महान् पाप करने को तैयार हुए हैं, जोकि राज्य और सुख के लोभ से अपने कुल को मारने के लिये तत्पर हो गये हैं ।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।। २/४

मधुसूदन ! रणभूमि में पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के साथ मैं बाणों से युद्ध कैसे कर सकूँगा ? क्योंकि शत्रु हन्ता ! ये दोनों ही मेरे लिये पूज्य हैं ।।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धमसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधिमांत्वां प्रपन्नम् ।। २/७

बुद्धिदुर्बलता रूप दोष से नष्ट हुए स्वभाव वाला तथा धर्म का निर्णय कर पाने में विमूढचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ, (अतः) जो निश्चित रूप से कल्याणकारक उपाय हो, वह मुझे बताइए। मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये शरणागत हुए मुझे आप उपदेश दीजिये ।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।। २/१०

(संजय बोला) भारत ! इस तरह दोनों सेनाओं के मध्य स्थित शोक कररते हुए उस अर्जुन से भगवान् कृष्ण मुस्कराकर यह वचन कहने लगे ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।। २/११

अर्जुन ! तुम शोक न करने योग्य जनों के लिये शोक कर रहे हो और बुद्धिमानों के जैसे वचन कह रहे हो; परन्तु पण्डितजन जिनके प्राण चले गये हैं तथा जिनके प्राण नहीं गये हैं– (अर्थात् मृत तथा जीवित लोगों) के बारे में शोक नहीं करते हैं ।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।। २/१३

अर्जुन ! जैसे जीवात्मा के इस शरीर में बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था– तीनों (अवस्थाएँ) होती हैं, ठीक इसी प्रकार एक शरीर से दूसरे शरीर की प्राप्ति भी (स्वाभाविक अवस्था) है, अतः विद्वान् पुरुष इस विषय में मोहित नहीं होता है ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।। २/१६

अर्जुन ! असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है, और सत् वस्तु का अभाव भी नहीं है । इस प्रकार इन दोनों का ही यह रहस्य (सार) तत्त्वदर्शियों ने साक्षात् देखा है ।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्धस्व भारत ।। २/१८

इस अविनाशी, ज्ञान के अविषय, नित्य जीवात्मा (शरीरी) के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं । इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।। २/१६

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है और जो इसे मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही (इस आत्मा को यथार्थ में) नहीं जानते, क्योंकि यह आत्मा न तो मारता है और न ही मारा जाता है ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। २/२७

(अर्जुन ! यदि तुम कहो कि मैं तो शरीरों के वियोग का शोक करता हूँ तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नये शरीर को प्राप्त होता है ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।। २/२७

(अर्जुन !) जन्म लेने वाले की अवश्य ही मृत्यु होती है, और मरने वाले का अवश्य ही जन्म होता है । इसलिये जन्ममृत्यु रूप इस अपरिहार्य विषय को लेकर तुझे शोक करना उचित नहीं है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।। २/३१

अपने (क्षात्र) धर्म को भी देखकर तुझे भय नहीं करना चाहिये, क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर अन्य कोई कल्याणकारक कर्त्तव्य क्षत्रिय के लिये नहीं होता ।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।। २/३७

(अर्जुन !) यदि तू युद्ध में मारा गया तो स्वर्ग को प्राप्त करेगा, अथवा फिर विजय प्राप्त कर पृथिवी का भोग करेगा, इसलिये कुन्तीपुत्र ! युद्ध के लिये निश्चय करके उठ ।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।। २/३८

(अर्जुन !) सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझ कर युद्ध के लिये तैयार हो जा । (इस प्रकार युद्ध करने से) तू पाप का भागी नहीं होगा ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्धाया युक्तो यया पार्थ कर्मवन्धं प्रहास्यसि ।। २/३९

पार्थ ! यह बुद्धि (विचार) तुम्हारे लिये मैंने सांख्य (ज्ञान-योग) के विषय में कही है, और इसी को अब योग के विषय में सुनो, जिस बुद्धि से युक्त होकर तुम कर्मबन्धन को भलीभाँति नष्ट कर दोगे ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।। २/४७

केवल कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, फल में कभी नहीं (अतः) तुम कर्मफल की प्राप्ति का कारण मत बनो । (साथ ही) कर्म न करने में भी तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिये ।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।। २/४८

धनंजय ! आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर (केवल योग में स्थित होकर तू कर्मों को कर । (क्योंकि) यह समत्वभाव ही योग कहलाता है ।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।। २/५०

(समत्व) बुद्धि से युक्त पुरुष पुण्य तथा पाप दोनों को यहीं छोड़ देता है, (अर्थात् सुकृत एवं दुष्कृत जन्य कर्मबन्धन से छूट जाता है) । इसलिये (अर्जुन) ! तू योग के लिये जुट जा; क्योंकि कर्मों में कुशलता ही योग है ।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।। २/५३

जब (अनेक साधन, साध्य और तत्सम्बन्ध प्रतिपादिका) श्रुतियों से विभ्रमित तुम्हारी बुद्धि समाधि में स्थिर हो जायेगी, तब तू योग को प्राप्त करेगा ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।। २/५४

(अर्जुन पूछता है) केशव ! समाधि में स्थित स्थिर बुद्धि वाले पुरुष की क्या परिभाषा है ? स्थिर बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ?

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।। २/५५

(भगवान् बोले) पार्थ ! जब यह पुरुष मन में स्थित समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है, उस समय अपने में ही अपने से सन्तुष्ट हुआ वह पुरुष "स्थितप्रज्ञ" कहा जाता है ।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधाः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।। २/५६

दुःखो की प्राप्ति होने पर जिसका मन उद्वेग रहित रहता है, सुखों की प्राप्ति में जो स्पृहारहित रहता है, तथा जिसके राग, भय, तथा क्रोध बीत गये हैं, ऐसा मुनि "स्थितप्रज्ञ" कहलाता है ।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। २/५८

जिस प्रकार कछुवा अपने अङ्गों को समेट लेता है, वैसे ही यह पुरुष जब अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से पूरी तरह समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ।।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।। २/६२

(अर्जुन !) विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है, तथा कामना (में विघ्न पड़ने) से क्रोध उत्पन्न होता है ।।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। २/६३

क्रोध से अविवेक (अर्थात् किंकर्त्तव्यविमूढभाव) उत्पन्न होता है, तथा अविवेक से स्मृति विभ्रम (यानी शास्त्रों तथा आचार्यों के द्वारा उपदेश प्राप्त संस्कारों का नाश) होता है, स्मृति के भ्रंश से बुद्धि (कर्त्तव्याकर्त्तव्य विषयक विवेक की योग्यता) का नाश हो जाता है और बुद्धि के नष्ट हो जाने से पुरुष (अपने श्रेय से) गिर जाता है ।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। २/६८

इसलिये महाबाहो ! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ पूरी तरह इन्द्रियों के विषयों से हटा दी गयी हैं, सकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। २/६९

समस्त प्राणियों के लिये जो रात्रि है, उस में स्थितप्रज्ञ योगी जागता है, और जिस में समस्त गी जागते हैं, तत्त्व द्रष्टा मुनि के लिये वह रात्रि है ।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।। २/७१

जो पुरुष समस्त कामनाओं का परित्याग करके ममता रहित, अहंकारशून्य, तथा स्पृहा से त होकर विचरण करता है, वह शान्ति को प्राप्त करता है ।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।। ३/१

जनार्दन ! यदि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान आपके मत में श्रेष्ठ हैं, तो फिर केशव ! आप मुझे क्रूर में क्यों नियुक्त कर रहे हैं ?

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।। ३/३

(अर्जुन के पूछने पर भगवान् कृष्ण ने कहा) हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा (स्थिति) मेरे द्वारा पहले कही गयी है । ज्ञानियों की ज्ञानयोग से तथा योगियों की कर्मयोग से (निष्ठा बतायी गयी है) ।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।। ३/४

(किसी भी निष्ठा के अनुसार कर्मों को स्वरूप से नहीं त्यागा जा सकता है, क्योंकि) कर्मों का आरम्भ किये बिना मनुष्य निष्कर्म-भाव को (कर्मशून्य स्थिति को) नहीं पाता और केवल संन्यास से (अर्थात् बिना ज्ञान के केवल कर्मपरित्याग मात्र से) मनुष्य सिद्धि नहीं पाता ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।। ३/८

(इसलिये) तू (शास्त्रविधि से) नियत किये हुये (स्वधर्म रूप) कर्म को कर; क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, यहाँ तक कि कर्म न करने से तेरा शरीर -निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा ।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।। ३/९

(बन्धन के भय से भी कर्मों का त्याग करना उचित नहीं, क्योंकि) यज्ञ के निमित्त कर्मों से भिन्न कर्मों में लगा हुआ ही मनुष्य कर्मों के द्वारा बँधता है, इसलिये तू आसक्ति रहित होकर यज्ञ के निमित्त कर्म का भलीभाँति आचरण कर ।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ३/१९

इसलिये तू अनासक्त होकर निरन्तर स्वकर्त्तव्य कर्म का परिपालन कर; क्योंकि निरासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परम तत्त्व को प्राप्त होता है ।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। ३/२१

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो कर्म करताहै, अन्य (सामान्य) जन उस-उस (कर्म) का ही आचरण करते हैं । वह जिस को प्रमाण मानता है, या मानक आचरण करता है जनसाधारण उसी के अनुसार चलते हैं (यानी उसी को प्रमाण मानते हैं) ।

सक्ता कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।। ३/२५

भरतवंशिन् जैसे कर्मों में आसक्त हुए अज्ञानी मनुष्य कर्म करते हैं, वैसे ही विद्वान् को अनासक्त होकर लोक कल्याण का अभिलाषी होकर कर्म करना चाहिये ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। ३/२७

प्रकृति के गुणों के द्वारा ही सारे कर्म किये जाते हैं; किन्तु अहंकार से मोहित अन्तःकरण वाला[1] पुरुष "मैं कर्त्ता हूँ" –ऐसा मान लेता है ।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।। ३/२८

किन्तु हे महाबाहो ! गुण विभाग तथा कर्मविभाग को तत्त्वत;. जानने वाला ज्ञानी पुरुष "(इन्द्रियादि रूप) गुण ही (शब्दादि विषय रूप) गुणों में वर्तमान हैं– ऐसा मानकर उसमें आसक्त नहीं होता है ।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।। ३/३०

अर्जुन ! मुझमें आत्मपरक बुद्धि से सारे कर्म समर्पित कर आशा रहित और ममताशून्य होकर सन्ताप रहित हुआ युद्ध कर ।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः पर धर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।। ३/३५

अच्छी तरह अनुष्ठान किये गये दूसरे के धर्म की अपेक्षा गुणरहित भी अनुष्ठित अपना धर्म कल्याणकर होता है । पर धर्म में स्थित पुरुष के जीवन की अपेक्षा स्वधर्म में स्थित पुरुष का मरण भी श्रेयस्कर होता है; क्योंकि दूसरे का धर्म भयदायक है ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्धये नमिह वै रिणम् ।।३७

(अर्जुन !) रजोगुण से समुत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खाने वाला (महाशन) है, अतः महापापी भी है, (क्योंकि काम से प्रेरित होकर जीव पाप किया करता है) इसलिये इस काम को ही तू इस संसार में शत्रु जान ।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।। ३/४०

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस काम के निवास स्थान कहे जाते हैं । यह काम इन (आश्रयभूत इन्द्रियादि) के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके इस जीवात्मा को नाना प्रकार से विमोहित करता रहता है ।

पाद टिप्पणी–

१. अहङ्कारविमूढात्मा– देहेन्द्रिय के धर्म को अपना धर्म मान लेने वाला देहाभिमानी ।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।। ३/४२

पण्डित जन (बाह्य स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म, व्यापक एवं अन्तरस्थ) इन्द्रियों कहते हैं, इन्द्रियों (की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होने) से मन श्रेष्ठ है, मन से (अधिक सूक्ष कारण) बुद्धि श्रेष्ठ है, और जो बुद्धि से भी अत्यन्त परे (सुसूक्ष्म) है, वह आत्मा है (अ का भी द्रष्टा परमात्मा सर्वश्रेष्ठ है) ।।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।। ३/४३

इस प्रकार बुद्धि से भी श्रेष्ठ आत्मा को जानकर और आत्मा से ही आत्मा को (समाहित) करके हे महाबाहो ! इस काम रूप दुर्जय शत्रु को मार डाल ।।

इम विवस्वते यो गं प्रो क्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।। ४/१

अर्जुन ! मैंने इस अविनश्वर योग को पहले सूर्य से बताया था । सूर्य ने (अपने पु बताया, और मनु ने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकु से (यह योग) कहा ।

वहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ।। ४/५

अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे पहले बहुत से जन्म हो चुके हैं । हे परन्तप ! उन सबको हूँ किन्तु तुम नहीं जानते ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ।। ४/६

यद्यपि मैं अजन्मा, अव्ययस्वरूप तथा (ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त) भूतों व ईश्वर भी हूँ, तथापि अपनी प्रकृति पर अधिष्ठित होकर केवल अपनी माया (लीला) से रहता हूँ ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।। ४/७

भारत ! धर्म की जब-जब हानि और अधर्म की उन्नति होती है, तब-तब मैं अपनी सृ हूँ (स्वयं जन्म लेता हूँ) ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ।। ४/१३

(अर्जुन !) मैंने (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन) चारों वर्णों की सृष्टि (सत्त्वरज तीनों) गुणों तथा कर्मों के विभाग से ही की है । तुम इसे जानो कि मैं ही उसका कर्त उसका अकर्ता (नकरने वाला) अविनाशी (भी मैं ही) हूँ ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।। ४/१४

वे कर्म मुझसे नहीं लिप्त होते (अर्थात् मुझे कर्मबन्धन नहीं होता), और उन कर्मों के फल में भी मेरी अभिलाषा (तृष्णा) नहीं होती । इस प्रकार जो मुझे (वास्तविक आत्म रूप से) जान लेता है उसे कर्म नहीं बाँध पाते ।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।। ४/१६

कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? इस बारे में बुद्धिमान् पुरुष भी भ्रम में हैं । इसलिये मैं तुझसे वह कर्म (स्वरूप) कहूँगा जिसे जानकर तू अशुभ (यानी संसार बन्धन) से छूट जायेगा ।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।। ४/१७

कर्म का (स्वरूप) जानना चाहिये और विकर्म (विपरति कर्म) का भी स्वरूप जानना चाहिये तथा अकर्म (कर्म न करना) का भी स्वरूप जानना चाहिये; क्योंकि कर्मों की (अर्थात् कर्म, विकर्म और अकर्म की) गति (रहस्य) अत्यन्त गहन है (अतः समझने में बड़ा ही कठिन है) ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ,
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मवित् ।। ४/१८

जो (मनुष्य) कर्म में कर्म का अभाव (यानी वस्तुतः कर्म न होना) देखे और अकर्म में भी कर्म वह मनुष्यों में बुद्धिमान् मनुष्य है, और वही योगी (तथा) सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है ।[1]

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ।। ४/२०

जो कर्म फल की आसक्ति को त्यागकर नित्यतृप्त (यानी विषयकामना से रहित) हो गया है, (तथा जो) इष्ट फल साधन रूप) आश्रय से रहित है, वह पुरुष (लोक संग्रह की इच्छा से) पूर्ववत (अज्ञानावस्था में स्थित हुए जैसा) कर्म में प्रवृत्त होते हुए भी (अपना कोई प्रयोजन न रहने के कारण) कुछ भी नहीं करता ।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।। ४/२५

पादटिप्पणी--

1. यहाँ भाव यह है कि कर्मों का करना और उनका त्याग करना-- दोनों कर्तृव्यापार के अधीन हैं अतः अहंभावपूर्वक कर्म का त्याग भी वास्तव में कर्म ही है ।

अन्य (कितने ही) योगी (कर्म करने वाले लोग) देवता आदि के उद्देश से यज्ञ का ही अनुष्ठान करते हैं, तथा अन्य (ब्रह्मवेत्ता) लोग ब्रह्माग्नि में यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ का हवन करते हैं ।[१]

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।

स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।। ४/२८

(इस प्रकार) पैने व्रत का पालन करने वाले (संशितव्रत)[२] योगिजन कोई द्रव्यरूप, कोई तपरूप, कोई योगरूप[३], कोई स्वाध्यायरूप और कोई ज्ञानरूप यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं ।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।

सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।। ४/३३

हे परन्तप ! द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ अधिक श्रेष्ठ है; क्योंकि पार्थ समस्त कर्म पूर्णतया ज्ञान में समाहित हो जाते हैं (अर्थात् उन सबका ज्ञान में अन्तर्भाव हो जाता है) ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।। ४/३४

इसलिये उस ज्ञान को तू (तत्त्ववेत्ता आचार्य से) (साष्टाङ्ग) प्रणाम, सेवा अथवा प्रश्न द्वारा जान ले । (तभी) वे तत्त्वसाक्षात्कार किये हुए तत्त्वज्ञानी लोग तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे । (इसका दूसरा अनुवाद इस प्रकार होगा) तो जान, तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी लोग तुझे उस ज्ञान का उपदेश साष्टाङ्ग प्रणाम, सेवा से और पूछने से करेंगे ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।। ४/३७

अर्जुन ! जैसे भलीभाँति सुलगी हुई अग्नि ईन्धन को जलाकर राख कर देती है, वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि समस्त कर्मों को भस्म रूप कर देती है ।[४]

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।। ४/३९

जितेन्द्रिय, तत्पर तथा श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को प्राप्त कर लेता है । ज्ञान को प्राप्त करने पर वह तत्क्षण ही परम शान्ति को पा लेता है ।।

पाद टिप्पणी--

१. शांर भाष्य के अनुसार ब्रह्मज्ञानी यज्ञ (अर्थात् आत्मा, जो सोपाधिक (जीवात्मा है उसका यज्ञ) यानी उपाधिरहित परब्रह्म रूप अग्नि इनमें ऐक्यभाव से स्थिति रूप हवन को सम्पन्न करते हैं ।

२. "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार धारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि" यो० सू० २/२९

३. जिनके व्रत-नियम सम्यक् शुद्ध एवं सूक्ष्म किये हुए होते हैं, वे लोग संशितव्रत कहलाते हैं ।

४. ज्ञानाग्नि अविद्यादि पञ्चक्लेशों को नष्ट कर देता है, फलतः कर्मों की संस्कारों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है, और कर्मसंस्कारों का क्षय होने पर कर्मफलबन्ध भी समाप्त हो जाता है ।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।। ४/४०

जो अज्ञ (आत्मज्ञान से रहित) हैं, और अश्रद्धावांन् तथा संशयात्मा हैं– ये तीनों (प्रकार के
ुष्य) नष्ट हो जाते हैं उनमें भी संशय युक्त पुरुष के लिये न सुख है और न यह लोक है, न
लोक (अर्थात् संशयात्मा के लिये लोक और परलोक– दोनों नष्ट हो जाते हैं) ।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।। ४/४२

इसलिये हे भारत ! अज्ञान से उत्पन्न और हृदय में रहने वाले इस संशय को (समत्वबुद्धि रूप)
न-खड्ग के द्वारा छेदन करके (कर्म) योग में स्थित हो, (और युद्ध के लिये) खड़ा हो जा ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।। ५/२

(श्री कृष्ण बोले) अर्जुन ! संन्यास (अर्थात् सारे कर्मों में कर्तृत्वाभिमान का त्याग) और कर्मयोग
अर्जुन ने पूछा) कृष्ण ! तुम कर्मों के संन्यास की और पुनः निष्काम कर्म योग की प्रशंसा कर रहे
।, (इसलिए) इन दोनों में से एक, जो निश्चित रूप से श्रेयस्कर हो वह मुझे बताओ ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निः श्रेयसकरौ बुभौ ।
तयोस्तु कर्म संन्यासात्कर्म योगो विशिष्यते ।।

(यानी कर्मों को समत्व बुद्धि से करना) ये दोनों ही कल्याणकारक (अर्थात् मोक्षदायक) साधन
किन्तु दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ है ।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।। ५/४

अज्ञानी जन ही सांख्य और योग को भिन्न-भिन्न (विरुद्धफलदायक) कहते हैं, विद्वान् नहीं ।[१]
नों में से एक का भी भलीभाँति आश्रय लेने वाला पुरुष दोनों का फल पा लेता है ।

नैव किञ्चिचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित् ।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ।। ५/८
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।। ५/९

(अर्जुन !) तत्त्ववेत्ता योगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ,
ाँस लेता हुआ, बोलता हुआ, (मलमूत्र) त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखें खोलता और

ाद टिप्पणी–

१. विद्वान् तो सांख्य योग दोनों को अभिन्नफल ही मानते हैं ।

बन्द करता हुआ भी यही माने कि सारी इन्द्रियाँ (अपने-अपने अर्थों) विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं, मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ ।

ब्रह्मण्याध्याय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। ५/१०

जो पुरुष (स्वामी के लिये कर्म करने वाले सेवक की भाँति मैं ईश्वर के लिये कर्म करता हूँ– इस भाव से) जो ब्रह्म में समर्पण करके आसक्ति रहित होकर सारे कर्म करता है, वह जल में निर्लिप्त कमलपत्र की भाँति पाप कर्म से लिप्त नहीं होता ।।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।। ५/१७

उस परमार्थ तत्त्व में जिनकी बुद्धि जा पहुँची है वे तद्बुद्धि,[१] तदात्मा,[२] तन्निष्ठ,[३] तत्परायण[४] हो जाते हैं (फलतः) ज्ञान के द्वारा उनके (पापादि)[५] कल्मष धुल जाते हैं, ऐसे संन्यासी फिर से जन्म नहीं लेते (अनुपरावृत्ति)[६] ।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।। ५/२०

जो पुरुष प्रिय वस्तु को पाकर प्रसन्न न हो, और अप्रिय (अनिष्ट पदार्थ) को पाकर उद्वेग (क्षोभ या दुःख) न करे– ऐसा स्थिर बुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता (पुरुष) परब्रह्म में (एकीभाव से) स्थित हो जाता है ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।। ५/२२

क्योंकि (विषय और इन्द्रियों के) के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले जो भोग हैं, वे सब (अविद्याजन्य होने के कारण) दुःख के कारण ही हैं, तथा आदि एवं अन्त वाले (यानी अनित्य) हैं । इसलिये हे कुन्ती पुत्र ! विद्वान् पुरुष उन (भोगों) में नहीं रमा करता ।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।। ६/२

पाद टिप्पणी

१. परमार्थ तत्त्व में जिनकी बुद्धि समाहित हो चुकी है, वे पुरुष "तद्बुद्धि" हैं ।

२. परब्रह्म ही जिनका आत्मा है यानी ब्रह्मात्मैक्य भाव को प्राप्त हुए मनुष्य "तदात्मा" हैं ।

३. उस परमात्मा में जिनकी दृढ़ आत्माभावना है वे लोग "तन्निष्ठ" हैं ।

४. परब्रह्म ही जिनका अयन अर्थात् आश्रय स्थल यानी परमगति है, वे केवल आत्मा में ही रत रहने वा[ले] लोग तत्परायण हैं ।

५. जिनके अन्तःकरण का रागादि विकार रूप अज्ञान ज्ञान के द्वारा विनष्ट हो गया है तथा ज्ञान के द्वारा संसा[र] के कारणभूत पापादि कर्म दोष जिनके समाप्त हो गये हैं वे "ज्ञाननिर्धूतकल्मष" कहलाते हैं ।

जिसे संन्यास कहते हैं उसी को पाण्डु पुत्र ! तू (निष्काम कर्म) योग समझ । क्योंकि फल-विषयक) संकल्पों का परित्याग न करने वाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारुढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।। ६/३

(कर्म) योग में आरुढ होने की इच्छा वाले मुनि के लिये (योग की प्राप्ति में निष्काम भाव से) कर्म करना ही साधन बताया गया है, और वही जब योगारुढ हो जाता है तो उसके लिये (योगारुढ स्थिति में सदा रहने का) साधन शम[1] कहा जाता है ।

यहाँ पर तिलक कृत अनुवाद द्रष्टव्य है– "(कर्म-) योगारुढ होने की इच्छा रखने वाले मुनि के लिये कर्म को (शम का) कारण अर्थात् साधन कहा है; और उसी पुरुष के योगारुढ अर्थात् पूर्ण योगी हो जाने पर उसके लिये (आगे) शम (कर्म का) कारण हो जाता है ।"

(गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, हिन्दी अनुवाद, दशम मुद्रण, पूना, १९५५, पृ० ७३५)

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मष्वनुषज्यते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारुढस्तदोच्यते ।। ६/४

जिस समय पुरुष न तो इन्द्रियों के अर्थों (विषय भोगों) में, न ही (नित्यनैमित्तिक आदि) कर्मों में आसक्त होता है, उस समय वह सब (कामना के मूल) संकल्पों का त्यागी पुरुष योगारुढ (योग में प्रतिष्ठित) कहा जाता है ।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ।। ६/५

(मनुष्य को चाहिये कि) अपना उद्धार अपने आप करे, अपने को गिराए नहीं । क्योंकि, (मनुष्य स्वयं अपना मित्र (बन्धु) है और स्वयं ही अपना शत्रु ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।। ६/१७

संतुलित आहार-विहार, संयमित आचरण, और नियमित सोने और जागने वाले (व्यक्ति) का योग दुःख हरने वाला होता है ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।। ६/१८
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।। ६/१९

पाद टिप्पणी–

१. शम-- सर्व संकल्पों का अभाव यानी सर्वकर्मनिवृत्ति है ।

(इस प्रकार योगाभ्यास से) विशेष रूप से एकाग्र हुआ चित्त जिस समय (बाह्यविषयों के चिन्तन को छोड़कर) केवल आत्मा में ही स्थित हो जाता है उस समय समस्त कामनाओं की लालसा से रहित व्यक्ति युक्त (अर्थात् योगी) कहा जाता है ।

जिस प्रकार वायु से रहित स्थान में स्थित दीपक विचलित नहीं होता, वही उपमा चित्त को जीतकर योग करने वाले योगी की दी गयी है ।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।। ६/२०
तं विद्याद्दुः रव संयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।। ६/२३

योग-साधन से निरुद्ध किया हुआ (अर्थात् निश्चल) चित्त जिस अवस्था में उपरत (शान्त) हो जाता है, और जहाँ आत्मा का अपने भाव साक्षात्कार करता हुआ वह (योगी) अपने में ही सन्तुष्ट (तृप्त) हो जाता है । (उसे दुःख के संपर्क के रहित योग नामक (स्थिति) जानना चाहिये और बिन ऊबे हुए निश्चय के साथ उस योग का (अनुशीलन) करना चाहिये ।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।। ६/२४
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।। ६/२५

(अतएव मनुष्य को चाहिए कि) संकल्प से उत्पन्न होने वाली समस्त कामनाओं को निःशेषता से (अर्थात् लेशमात्र भी न बचाते हुए निर्लेपभाव से) छोड़कर और मन से इन्द्रियों के समूह को सब ओर से रोककर (यानी उनका संयम करके) शनैःशनैः धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा उपरति (अर्थात् शान्ति प्राप्त करे तथा मन को आत्मा में विश्रान्त करके) अन्य किसी भी वस्तु का चिन्तन न करे।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।। ६/२६

(इस प्रकार मन को वश में करते हुए) यह चञ्चल तथा स्थिर न रहने वाला मन (जिस-जिस जिधर-जिधर से शब्दादि विषय भोगों के कारण) विचलित हो उधर-उधर से रोक कर ही एकाग्र करे ।।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।। ६/२७

(इस भाँति) शांत मन वाले, चंचलता से रहित (शान्त रजसम्), निष्पाप योगी उत्तम सुख की प्राप्ति होती है ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः । ६/२९

योग से युक्त (अर्थात् समाहित अन्तःकरण वाला) और सब जगह समान दृष्टि वाला[1] योगी (पुरुष) अपने को सब प्राणियों में और अपने में सब प्राणियों को स्थित देखता है ।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।। ६/३३

मधुसूदन ! आपने जो यह समत्वभाव रूप योग कहा है, मन की चञ्चलता के कारण मैं इस योग की निश्चित स्थिति को नहीं देख पा रहा हूँ ।।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। ६/३५

(अर्जुन के इस प्रकार कहने पर श्रीकृष्ण बोले)-- हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है परन्तु कौन्तेय ! अभ्यास से (किसी चित्तभूमि में निरन्तर एक समान वृत्ति की बारम्बार आवृत्ति करने से) तथा वैराग्य से चित्त की चंचलता को वश में किया (निग्रह किया) जा सकता है ।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योग संसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।। ६/३७

(अर्जुन ने पुनः पूछा कि) कृष्ण ! जो साधक योग मार्ग में प्रयत्न करने वाला नहीं है (अयति) परन्तु श्रद्धा से सम्पन्न है तथा जिसका मन योग से फिसल गया है वह योग्य सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है ?

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।। ६/४०

(तब श्रीकृष्ण ने कहा) पार्थ ! उस योगभ्रष्ट पुरुष का न तो इस लोक में और न ही परलोक में विनाश होता है,[२] क्योंकि तात ! कोई भी शुभ कर्म करने वाला मनुष्य दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है ।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।। ६/४१

पुण्यवानों के लोकों को (अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त करके वहाँ सैकड़ों वर्षों तक (अर्थात् अनन्तकाल तक) निवास करके (भोगों का क्षय होने पर) शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में वह योगभ्रष्ट (संन्यासी) जन्म लेता है ।

पाद टिप्पणी--

१. ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव कर लेने के कारण ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त प्राणियों में भेद-भाव से रहित बुद्धि वाला पुरुष "समदर्शी" है । --द्रष्टव्य शां० भा०

२. विनाशः-- पहले की अपेक्षा हीन जन्म की प्राप्ति का नाम ही 'नाश' है । द्रष्टव्य-- शां० भा०

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।। ६/४५

प्रयत्नपूर्वक उद्यम करता हुआ वह योगी विशुद्धकिल्विष[1] (अर्थात् पापों से शुद्ध होता हुआ) सिद्धि की अवस्था को प्राप्त कर (अंततः) परमगति को प्राप्त होता है ।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।। ७/२

(अर्जुन !) जिसे जान लेने पर यहाँ और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता है, विज्ञान सहित इस ज्ञान को मैं तुम्हें पूरी तह से बताऊँगा ।

भूमिरापोऽनलो वायु खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।। ७/४

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार से मेरी प्रकृति बंटी हुई है ।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।। ७/५

यह (उपर्युक्त) मेरी अपरा प्रकृति (जड़ रूप प्रकृति) है । महाबाहो ! इससे भिन्न जीवरूप (अर्थात् चेतन क्षेत्रज्ञरूपा) प्रकृति को तू मेरी परा प्रकृति जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है ।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । ७/६

सारे प्राणी इन्हीं (दोनों) से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा समझो । मैं ही सम्पूर्ण जगत् का उद्‌गम (प्रभव) तथा अन्त (प्रलय) हूँ ।दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। ७/१४

मेरी यह त्रिगुणात्मिका दैवी माया बड़ी ही दुस्तर (अर्थात् जिससे पार होना अति कठिन) है; किन्तु जो मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया को पार कर लेते हैं ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।। ७/१६

पाद टिप्पणी–

१. संशुद्धकिल्विषः– कई जन्मों में थोड़े-थोड़े संस्कारों को एकत्रित कर उन अनेक जन्म के संचित संस्कार से पाप रहित हो जाना 'संशुद्धकिल्विष' कहलाता है ।

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ ! आर्त[1], जिज्ञासु[2], अर्थार्थी[3], और ज्ञानी[4]– ये चार प्रकार के पुण्यकर्मा लोग मेरी भक्ति करते हैं ।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।। ७/१७

उन (चार प्रकार के भक्तों) में मुझे एकनिष्ठ भाव से भजने वाले सदैव योगारूढ (निष्कामयोगी) ज्ञानी (सबसे) बढ़कर है, मैं ज्ञानी का अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मेरा प्रिय है ।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहर्निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।। ७/२८

जिन पुण्यकर्म करने वाले पुरुषों के पापों का अन्त हो गया है,[5] वे (रागद्वेषादि) द्वन्द्व के मोह से छूट जाते हैं और दृढ़व्रती होकर मुझ को ही भजते हैं ।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयम् ।। ८/५

और जो पुरुष अन्त समय में मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर त्याग करता है, वह मेरे स्वरूप (मद्भाव) को प्राप्त होता है– इस विषय में कोई सन्देह नहीं है ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।। ८/७

इसलिये तू हर समय मेरा (ही) स्मरण कर, और युद्ध कर । इस प्रकार मुझमें मन, तथा बुद्धि समर्पित कर तू मुझसे आ मिलेगा इस बारे में कोई संशय नहीं है ।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।। ८/११

वेद को जानने वाले विद्वान् जिसे अक्षर (अविनाशी) कहते हैं, तथा वीतराग (अनासक्त) योगी जिस में प्रवेश कर जाते हैं, जिसे जानने की इच्छा करते हुए (साधक) ब्रह्मचर्य व्रत का परिपालन करते हैं; उस पद (ऊँकार ब्रह्म) को मैं तुझसे संक्षेप में कहूँगा ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।। ८/१२

पाद टिप्पणी–

१. आर्त– पीड़ित । चोर, व्याघ्र, रोग इत्यादि से ग्रस्त तथा आपद्ग्रस्त लोग 'आर्त' की श्रेणी में आते हैं ।
२. जिज्ञासु– भगवान् का तात्त्विक स्वरूप जानने की इच्छा करने वाले 'जिज्ञासु' कोटि में आते हैं ।
३. अर्थार्थी– धन की कामना वाले लोग 'अर्थार्थी' कहलाते हैं ।
४. ज्ञानी– परमार्थतत्त्व के जानने वाले विद्वान् 'ज्ञानी' की कोटि में होते हैं ।
५. जिनके कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के कारण होते हैं वे पुण्यकर्मा लोग ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्यवहार न्मामनुस्मरन् ।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।। ८/१३

समस्त (इन्द्रिय रूप) द्वारों का संयम करके, और मन को हृदय में निरुद्ध करके फिर प्राण को मस्तक में ले जा करके योगधारण में अधिष्ठित होकर 'ओम्' इस एक अक्षर रूप ब्रह्म का (अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप का बोध कराने वाले प्रणव का) उच्चारण करता हुआ तथा मेरा स्मरण करता हुआ जो (साधक) शरीर त्याग करके जाता है वह परम गति प्राप्त करता है ।।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम् परमं मम । ८/२१

जो अव्यक्त 'अक्षर' कहा गया है, उसे ही सर्वोत्तम गति (भी) कहते हैं । जहाँ पहुँच कर फिर से नहीं लौटते (अर्थात् पुनः संसार में वापस नहीं आता), वह मेरा परम धाम है ।।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।। ६/१

तुझ द्वेष रहित (असूया शून्य भक्त) के लिये मैं विज्ञान सहित[१] इस परम् गोपनीय ज्ञान[२] के विज्ञान सहित२ बताऊँगा । जिस (ज्ञान) को जानकर तू अशुभ (संसार बन्धन) से छूट जायेगा ।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।। ६/७

कुन्ती पुत्र सम्पूर्ण प्राणी प्रलयकाल में मेरी प्रकृति में आ मिलते हैं,[३] और कल्प के प्रारम्भ (सृष्टकाल) में मैं, पुनः (पहले की भांति) उन (प्राणियों) को रचता हूँ ।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।। ६/१०

मुझ अधिष्ठाता[४] से (प्रेरित होकर) प्रकृति चर एवं अचर जगत को उत्पन्न करती है । इसी

पाद टिप्पणी

१. विज्ञानसहित-- विज्ञान सहित का तात्पर्य है अनुभव से युक्त ज्ञान । वह ब्रह्मज्ञान आत्मा से अनुभव करने योग्य होने के कारण अपरोक्षानुभूति रूप है ।

द्रष्टव्य "विज्ञानसहितम् अनुभवयुक्तम्" । शां० भा०

२. 'ज्ञानम्'-- यथार्थ ज्ञान जो साक्षात् मोक्ष-प्राप्ति का साधन है "वासुदेवः सर्वमिति" आत्मै-वेदं सर्वम्" (ब्र० उ० २/४/६) श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है । यह रहस्य ज्ञान अधिकारी पुरुष को ही बतलाने योग्य होता है अतः गुह्यतम है ।

३. सत्त्वरजस्तमो रूप त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति में सारे प्राणी समा जाते हैं ।

४. मया अध्यक्षेण-- "मया सर्वतो दृशिमात्रस्वरूपेण अविक्रियात्मना अध्यक्षेण मम माया त्रिगुणात्मिका अविद्यालक्षणा प्रकृतिः सूयते उत्पादयति ।" --शां० भा०

सब ओर से द्रष्टा मात्र स्वरूप वाले निर्विकार मुझ परमात्मा रूप अधिष्ठाता की प्रेरणा से ही प्रकृति सृष्टि उत्पन्न करती है । परमात्मा के निर्विकार स्वरूप होने में श्रुतिप्रमाण प्रस्तुत है-- एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूतधि वासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।। श्वेता० उ० ६/११

कारणे (यानी मैं इसका अध्यक्ष हूँ इसलिये), हे कुन्ती पुत्र ! वह जगत् परिवर्तित होता रहता है।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नियुक्ताउपासते ।। ६/१४

नित्य योगयुक्त (भक्त जन) दृढव्रती होकर निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए तथा (मेरी प्राप्ति के लिये) प्रयत्न करते हुए, भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं ।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।। ६/१५

(उन दृढ़व्रती लोगों में से) कुछ तो अभेद बुद्धि से,[२] कुछ भेद बुद्धि से तथा अन्य लोग विविध प्रकार से[४] ज्ञानयज्ञ के द्वारा यजन करते हुए मुझ सर्वतोमुख की उपासना करते हैं ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। ६/२२

जो अनन्यभाव से चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य योग युक्त (या निरन्तर मत्परायण भक्त) जनों के योगक्षेम[५] का निवाह मैं स्वयं करता हूँ ।

यतकरोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। ६/२७

पाद टिप्पणी--

१. विपरिवर्तते-- इस पद से विवर्तवाद सूचित नहीं होता । शांकरभाष्य भी इसका विवर्तपक अर्थ नहीं करता व्यक्त का अव्यक्त और अव्यक्त का व्यक्त होना ही विपरिवर्तन या विपरिणाम है । साधारण शब्दों में अभिव्यक्ति और संहार, उत्पत्ति और प्रलय ही उसका अर्थ है । तिलक की दृष्टि में, इसलिये 'विपरिवर्तते' का अर्थ है "बनना विगड़ना हुआ करता है ।" (गी० र० पृ० ७८२)

२. 'एकत्वेन'-- "एकम् एव परं ब्रह्म इति
परमार्थदर्शनिन यजन्त उपासते ।" शां०भा०
अर्थात् पर ब्रह्म परमात्मा एक ही है-- ऐसे एकत्व रूप परमार्थ ज्ञान से उपासना करते हैं ।

३. 'पृथक्त्वेन'--"आदित्यचनन्द्रादिभेदेन स एव भगवान् विष्णुः आदित्यादिरूपेण अवस्थित इति उपासते ।" शां० भा०
अर्थात् पृथक् भाव से यानी आदित्य, चन्द्रमा आदि के भेद से इस प्रकार उपासना करते हैं कि वे ही भगवान् विष्णु सूर्य आदि से रूप में स्थित हुए हैं ।

४. 'बहुधा'-- "बहुधा अवस्थितः स एव भगवान् सर्वतोमुखः विश्वतोमुखो विश्वरूप इति तं विश्वरूपं सर्वतोमुखं बहुधा बहुप्रकारेण उपासते ।"शां० भा०
अर्थात् कुछ लोग वे ही सब ओर मुख वाले, विश्वमूर्ति भगवान् अनेक रूप से स्थित हो रहे हैं । उन विश्वरूप विराट् भगवान् ही की विविध प्रकार से उपासना करते हैं ।

५. "योगः अप्राप्तस्य प्रापणम् क्षेमः तद्रक्षणम्" शां० भा०
अर्थात् अप्राप्तवस्तु की प्राप्ति का नाम 'योग' है तथा प्राप्त वस्तु की रक्षा का नाम क्षेम है ।

कुन्ती पुत्र ! तू जो कुछ करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है, औ जो तप करता है, वह सब मुझे समर्पित कर दिया कर ।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।। ९/२८

इस प्रकार (समस्त कर्मों को मुझे समर्पित करके) तू शुभाशुभ फल वाले कर्मबन्धनों से छूट जायेगा तथा संन्यास योग से मुक्तात्मा[1] अर्थात् निर्मल अंतःकरण वाला होकर तू मुक्त होकर मुझमें मिल जायेगा[2] ।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।। १०/८

यह समझ कर कि मैं सबका मूल हूँ, और मुझसे (सबकी) प्रवृत्ति हो रही है, बुद्धिमान् पुरुष भावसमन्वित (अर्थात् परमार्थ तत्त्व की धारणा से युक्त) होते हुए मुझे ही भजते हैं ।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।। १०/१०

उन नित्य युक्त (अथवा निरन्तर मेरे ध्यान में तत्पर) प्रेमपूर्वक भजने वाले भक्तों को मैं वह बुद्धियोग[3] देता हूं, जिससे वे मुझ तकपहुँच जाते हैं (या मुझे पा लेते हैं) ।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ।। १०/१७

(अर्जुन ने पूछा कि) हे योगिन् ! सदैव आपका चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ ? भगवन् ! मैं आपका किन-किन वस्तुओं में चिन्तन करूँ ?

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ।। १०/१९

(तब श्री भगवान ने कहा) हे कुरुवंशियों में श्रेष्ठ । अब मैं तुझे अपनी मुख्य रूप से (अर्थात् मुख्य-मुख्य) दिव्य विभूतियों को बताऊँगा, क्योंकि मेरे विस्तार (विभूतियों) का अन्त नहीं है[4] ।

पाद टिप्पणी--

१. संन्यासयोगयुक्तात्मा-- शांकर भाष्य इसका थोड़ा सा भिन्न अर्थ करता है । उसके अनुसार ईश्वरार्पित कर्म किये जाने के कारण जो 'संन्यास' है और कर्म रूप होने के कारण जो 'योग है-- उस संन्यास योग से जिसका चित्त युक्त है वह पुरुष संन्यासयोगयुक्तात्मा है ।

२. मुझ परमात्मा में आत्मरूप से समा जायेगा । "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" श्रुति से भी प्रमाणित है ।

३. बुद्धियोगम्-- ' 'बुद्धिः सम्यग्दर्शनं मत्तत्त्वविषयं तेन योगः बुद्धियोगः तम् ।'' शां० भा० अर्थात् मेरे तत्त्व के यथार्थ ज्ञान का नाम बुद्धि है उससे युक्त होना "बुद्धियोग" है ।

४. तात्पर्य यह है कि मेरी जहाँ-जहाँ जो-जो प्रधान विभूतियाँ हैं, मैं उनका ही वर्णन करता हूँ, सम्पूर्णता से तो सौ वर्षों में भी नहीं बताया जा सकता, क्योंकि मेरा विस्तार अनन्त है ।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तेदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ।। १०/४१

संसार में जो-जो भी पदार्थ ऐश्वर्यमय, श्रीमय या ऊर्जामय हैं, उन-उन को तू मेरे तेजोमय अंश से उत्पन्न हुआ समझ (अर्थात् मेरे तेज का एक अंश ही इन सारे पदार्थों की उत्पत्ति का कारण है ऐसा समझ ले) ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।

यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतोमम ।। ११/१

(अर्जुन ने कहा) भगवन् ! मुझ पर अनुग्रह करने के लिये आपने अत्यन्त गोपनीय अध्यात्म नामक (आत्मा-अनात्मा विवेचन विषयक) वचन कहे हैं, उनसे मेरा मोह नष्ट हो गया है ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।

योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।। ११/४

प्रभो ! यदि मुझे आप समझते हैं कि मैं (आपका) वह (विश्वरूप) देख सकता हूँ तो योगेश्वर! आप मुझे अपना वह अविनाशी स्वरूप दिखलाइए ।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।। ११/८

(कृष्ण कहते हैं--) तू मेरे (उस दिव्य विराट्) रूप को अपने इन्हीं (प्राकृत) नेत्रों से नहीं देख सकता । मैं तुझे दिव्य नेत्र देता हूँ, उससे तू मेरे ईश्वरीय योग को (यानी अतिशय योग्ग-सामर्थ्य को) देख ।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ।

(अर्जुन ने भगवान् के विराट् रूप को देखकर कहा·

हे विश्वेश्वर ! मैं आपको अनेक भुजा, उदर, मुख और आँखों वाला तथा सब ओर से अनन्त रूप वाला देख रहा हूँ । विश्वरूप ! मैं आपका न तो अन्त, न मध्य और न ही आदि (प्रारम्भ देख रहा हूँ ।[1]

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।

'विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।। ११/३१

आप मुझे बताइए कि घोर आकार वाले आप कौन हैं ? देवश्रेष्ठ ! आपको नमस्कार है, आप प्रसन्न हों । (सृष्टि के) आदि में होने वाले[2] आदि पुरुष आप को मैं भली भाँति जानना चाहता हूँ; क्योंकि मैं आपकी (इस) चेष्टा को नहीं समझ पा रहा हूँ ।

पाद टिप्पणी

१. आप सर्वव्यापक, अनादि, अनन्त और सर्वतोमुख हैं, सर्वथा अप्रमेय हैं ।

२. "आदौ भवम् आद्यम्" द्रष्टव्य शां० भा०

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धोलोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

ऋृतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ११/३२

(श्री भगवान् बोले) मैं लोकों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ काल हूँ । इस समय लोकों का संहार करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ । इसलिये (अर्जुन) तेरे बिना भी (तेरे युद्ध न करने पर भी) ये सब योद्धा, जो प्रतिपक्षियों की प्रत्येक सेना में स्थित हैं, नहीं रहेंगे (अर्थात् इनकी मृत्यु तो सुनिश्चित ही है चाहे तू युद्ध करे या न करे) ।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ११/३३

इसलिए तू उठ, और यश को प्राप्त कर । शत्रुओं को जीतकर समृद्धिशाली राज्य को भोग। ये सब शूरवीर - पहले से ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं । हे सव्यसाचिन् ! तू केवल निमित्त (माध्यम) मात्र बन जा ।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ११/३८

(तब अर्जुन स्तुति करते हुए बोला) हे प्रभो ! आप आदि देव हैं, पुरातन पुरुष हैं[१], तथा आप (ही) इस विश्व के परम आश्रय (निधान)[२] हैं । आप (ही) जानने वाले हैं, और (आप ही) जानने योग्य (तत्त्व) हैं । और (आप ही परम धाम हैं । हे अनन्तरूप ! सारा जगत् आपसे व्याप्त है (अर्थात् सर्वत्र आपकी ही सत्ता है) । आप अनन्त रूप हैं ।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपिता महश्च ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ११/३९

आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा (कश्यपादि) प्रजापति हैं, और आप ही पितामह (ब्रह्मा) के भी पिता (प्रपितामह) हैं । आपको हजारों बार नमस्कार है, पुनः बारम्बार नमस्कार है, नमस्कार है ।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।

अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ११/४१

आपकी महिमा को न जानते हुए मैंने आपको मित्र मानकर भूल से अथवा स्नेह से 'कृष्ण ! यादव! सखे !' इत्यादि जो आग्रहपूर्वक कह दिया हो ।

पाद टिप्पणी--

१. पुराण का अर्थ है पुराना या पुरातन । शांकर भाष्य में इसकी व्युत्पत्ति, की गयी है पुरिशयनात् पुराणः अर्थात् शरीर रूप पुर में रहने के कारण आप सनातन पुरुष हैं। (द्रष्टव्य शां०भा०)

२. परं निधानम्-- ' ' अस्य विश्वस्य परं प्रकृष्टं निधानं निधीयते अस्मिन् जगत् सर्वं महाप्रलयादौ। (शां०भा०)
अर्थात् महाप्रलय आदि में सम्पूर्ण जगत् जिसमें स्थित होता है, वह आश्रय आप ही हैं ।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासन भोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वाऽ हम प्रमेयम् ।। ११/४२

और विहार करते, सोते, बैठते या भोजन करते हंसी हंसी में कई बार अकेले में या (सबके सामने जो आपका अनादर किया हो, अच्युत ज्ञान के अविषय (अथवा प्रमाणों से परे) आपसे मैं उन (सारे अपराधों) के लिए क्षमा माँगता हूँ ।

अदृष्टपूर्वं हषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ।। ११/४५

आपके जिस विराट् रूप को मैंने पहले नहीं देखा था ऐसे इस विश्व रूप को देखकर मैं प्रसन्न हो रहा हूँ तथा (साथ ही) मेरा मन भय से अति व्याकुल भी हो रहा है । (इसलिए) देव ! आप मुझे उसी (पहले वाले यानी शिर पर मुकुट धारण किये हुए, हाथों में गदा, शंख, चक्र लिए हुए सुशोभन चतुर्भुज) रूप को दिखाइए । हे देवेश्वर ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न हों ।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ।। ११/५२

(इस प्रकार अर्जुन के वचनों को सुन कर श्रीकृष्ण ने कहा) मेरा यह (विराट्) रूप जिसे तूने देखा है वह बड़ी ही कठिनता से देखने को मिलता है । देवगण भी मेरे इस रूप का दर्शन पाने की सदा लालसा रखते हैं ।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।। ११/५३

जिस प्रकार तुने मुझे देखा है - वैसे उस प्रकार से न तो वेदों से, न तपस्या से, न दान से और न ही यज्ञ से मैं देखा जा सकता हूँ ।

भक्त्या त्वनन्या शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ।। ११/५४

अर्जुन ! केवल अनन्य भक्ति[1] के द्वारा इस प्रकार के मुझको को जानना , देखना और परन्तप! तत्त्वतः (मुझमें) प्रवेश करना संभव है ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।। १२/१

(यह सुनकर अर्जुन ने पुछा) ! जो भक्त निरन्तर युक्त चित्त से आप की भली-भाँति उपासना करते हैं, और जो अक्षर अव्यक्त[2] (ब्रह्म) की उपासना करते हैं उन दोनों में श्रेष्ठ योगवेत्ता कौन. है ?

पाद टिप्पणी—

१. अनन्यभक्ति - भगवान को छोड़कर अन्य किसी भी वस्तु में कभी भी आसक्ति न होना (एक निष्ठा से) 'अनन्यभक्ति' है - सर्वैः अपि करणैः वासुदेवाद् अन्यद् न उपलभ्यते यया सा अनन्या भक्तिः ।" (शां० भा०)

२. "निरस्तसर्वोपाधित्वाद् अव्यक्तम् अकरण गोचरम् - अर्थात् समस्त उपाधियों से रहित होने के कारण इन्द्रियादि करणों से अतीत (परे) होना 'अव्यक्त' है ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।। १२/२

(भगवान बोले) जो मुझ में मन को आविष्ट कर निरन्तर युक्तभाव से परम श्रद्धा से समन्वित होकर मेरी उपासना करते हैं ! मेरे मतानुसार वे अति उत्तम योगी हैं ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।। १२/३

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः ।। १२/४

किन्तु जो (इन्द्रिय समूह को वश में करके सर्वत्र समान बुद्धि रखते हुए) उस अक्षर, अव्यक्त, अनिर्देश्य (प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परे) सर्वत्र व्याप्त,[१] अचिन्तनीय,[२] कूटस्थ[३] (सदा एक रस रहने वाले) निश्चल तथा शाश्वत तत्त्व की उपासना करते है । वे समस्त प्राणियों के कल्याण में लगे हुए (समदर्शी) योगी मुझे ही प्राप्त करते हैं ।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गति र्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।। १२/५

(यद्यपि मेरे लिये कर्म में लगे हुए साधकों को भी कष्ट होता है, तथापि) जिनका चित्त अव्यक्त (निर्गुण, निराकार ब्रह्म) में आसक्त है, उनको और भी अधिक क्लेश उठाना पड़ता है, क्योंकि देहधारियों को अव्यक्त गति बड़े दुःख से प्राप्त होती है ।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।। १२/६

किन्तु जो समस्त कर्मों को मुझ में अर्पित करके मत्परायण होकर अनन्य (भक्ति रूप) योग से मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना[४] करते हैं ।

पाद टिप्पणी-

१. सर्वत्रगम् - 'व्योमवद् व्यापि' यानि आकाश के समान सर्वव्यापक ।

२. अचिन्त्यम् - 'अव्यक्तत्वात् अचिन्त्यम्' । जो अव्यक्त होने के कारण बुद्धि की चिन्तना शक्ति से भी परे है ।

३. 'दृश्यमानगुणम् अन्तर्दोषं वस्तु कूटं कूटरूपं कूटसाक्ष्यम् इत्यादौ कूटशब्दः प्रसिद्धो लोके । 'मम माया दुरत्यया' इत्यादौ प्रसिद्धं यत् तत् कूटम् । तस्मिन् कूटे स्थितं कूटस्थम् तदध्यक्षतया ।'' (शां० भा०) अर्थात् जो वस्तु ऊपर से गुणयुक्त तथा अन्दर से दोषों से भरी हो उसका नाम कूट है । अथवा श्रुतिस्मृति वचनों में 'माया' ही 'कूट' रूप में प्रसिद्ध है, जो उस माया का अधिष्ठाता है वह 'कूटस्थ' है ।

४. ''उपासनं नाम यथाशास्त्रम् उपास्यस्य अर्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यन् उपगम्य तैल धारावत् समान प्रत्यय प्रवाहेण दीर्घकालं यद् आसनं तद् उपासनम् आचक्षते ।'' (शां० भा०)

अर्थात् उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्त विधि से बुद्धि का विषय बनाकर उसके समीप पहुँच कर तैलधारा के सदृश समान वृत्तियों के प्रवाह से जो दीर्घकाल तक उसमें स्थित रहना है, उसे 'उपासना' कहते है ।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।। १२/७

पार्थ ! मुझमें पूरी तरह से समाहित चित्त वाले उन भक्तों का मैं मृत्यु रूप संसार सागर से बिना देर लगाए उद्धार करता हूँ ।

अथ चित्तं समाधातुं नशक्नोषि मयिस्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ।। १२/९

यदि इस प्रकार (जैसा मैने कहा है वैसा) तू मुझमें चित्त को स्थिर रूप से समाहित नहीं कर सकता, तो फिर धनंजय ! तू अभ्यास योग[१] के द्वारा मुझे पाने की इच्छा कर ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरोभव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।। १२/१०

यदि तू अभ्यास में भी असमर्थ है तो मेरे लिए कर्म करने में तत्पर हो जा । (अभ्यास के बिना) केवल मेरे लिए कर्म करता हुआ भी तू सिद्धि को प्राप्त कर लेगा ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।। १२/११

(अर्जुन ! यदि तू) इसको भी (अर्थात् मदर्थ कर्म को भी) करने में असमर्थ है, तो फिर मद्योग[१] मदर्पणपूर्वक योग के आश्रित होकर तथा संयत चित वाला होकर समस्त कर्मों के फल का त्याग कर दे ।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञाना द्धयानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।। १२/१२

निःसन्देह अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, उस ज्ञान से भी ध्यान अधिक श्रेष्ठ है । इसी तरह ध्यान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग अधिक श्रेष्ठ साधन है, (क्योंकि) कर्मफल त्याग से तत्काल शान्ति प्राप्त हो जाती है ।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।। १३/१

---

१. चित्त को सब ओर से खींचकर एकमात्र परमात्मा में लगाने का नाम अभ्यास है, उससे युक्त जो समाधि रूप योग है उसे 'अभ्यासयोग' कहते हैं । (शां० भा०)

कौन्तेय ! यह शरीर क्षेत्र[2] कहा जाता है तथा इसे (शरीर रूप क्षेत्र को) जो जानता है उसे इस (तत्त्व) को जानने वाले क्षेत्रज्ञ[3] कहते हैं ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वेक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।। १३/२

हे भरतवंशी ! तू समस्त क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी मुझ (परमेश्वर) को ही जान, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है[4] वही (यथार्थ) ज्ञान है-- ऐसा मेरा अभिमत है ।[5]

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयानादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।। १३/१९

प्रकृति और पुरुष इन दोनों को भी तू अनादि समझ, तथा (बुद्धि से लेकर शरीरपर्यन्त) सम्पूर्ण विकारों ओर (सुखदुःख मोह के रूप में परिणत हुए सत्त्वरजस्तम) गुणत्रय को तू प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ जान ।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।। १३/२०

कार्य (शरीर) और मन बुद्धि, अहंकार तथा दश इन्द्रियाँ--इन तेरह इन्द्रियों के करणों के कर्तापन में हेतु (कारण) प्रकृति ही कही जाती है, और पुरुष क्षेत्र सुखदुःखों के भोक्तापन में (अर्थात् उनका उपभोग करने में) हेतु कहा जाता है ।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।। १३/२१

क्योंकि प्रकृति में स्थित होकर पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए (सुखदुःख मोह रूप में प्रकट) गुणा को भोगता है ।[1] गुणों का सङ्ग ही इस (भोक्ता) के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है।[2]

टिप्पणी-

१. "मयि क्रियमाणानि कर्माणि संन्यस्य यत्करणं तेषाम् अनुष्ठानं स मद्योगः ।" (शां० भा०)
अर्थात् किये जाने वाले सारे कर्मों को मुझ परमेश्वर में समर्पण कर देना "मद्योग" है ।

२. क्षेत्रम् - क्षतत्राणात् क्षयात् क्षरणात् क्षत्रवद् वा अस्मिन् कर्मफलनिर्वृत्तेः क्षेत्रम इति । (शां० भा०)
अर्थात् शरीर को क्षत (चोट) आदि से बचाया जाता है इसलिए अथवा शनैः शनैः क्षीण होते रहने के कारण अथवा खेत के समान इसमें कर्मफल प्राप्त होते हैं इसलिए शरीर को 'क्षेत्र' कहा जाता है ।

३. क्षेत्रज्ञ - "एतत् शरीरं क्षेत्रं यो वेत्ति विजानाति आपाद तलमस्तकं ज्ञानेन विषयीकरोति स्वाभाविकेन औपदेशिकेन वा वेदनेन विषयीकरोति विभागशः तं वेदितारं प्राहुः कथयन्ति क्षेत्रज्ञ इति ।" (शां०भा०)
अर्थात् इस शरीर को आपादशिरः पर्यन्त जो ज्ञान से प्रत्यक्ष करता है यानी स्वाभाविक या उपदेश द्वारा प्राप्त अनुभव से विभागपूर्वक स्पष्ट जानता है, उस ज्ञाता को 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं ।

४. अर्थात् विकार सहित प्रकृति और पुरुष का जो विवेकज्ञान है ।

५. दूसरी पंक्ति का अनुवाद तिलक भिन्न ढंग से करते हैं-- ''क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही मेरा (परमेश्वर का) ज्ञान माना गया है ।'' गीता र० पृ० ८२७

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।। १३/२३

जो पुरुष को इस प्रकार (अर्थात् गुणातीत) और प्रकृति को गुणों के सहित जानता है,[३] वह सब प्रकार से बरतते हुए भी पुनः जन्म नहीं लेता ।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।। १३/३२

जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी सूक्ष्म होने के कारण किसी से लिप्त नहीं होता वैसे ही आत्मा भी शरीर में सर्वत्र स्थित होते हुए भी (शरीर के गुण-दोषों से) लिप्त नहीं होता ।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।। १४/३

महद्ब्रह्म[४] (अर्थात् प्रकृति मेरी ही) योनि है । उस (महद्ब्रह्म रूप योनि) में मैं (परमेश्वर) (समस्त भूतों की उत्पत्ति के बीजभूत) गर्भ का आधान करता हूँ ।[५] भारत उस (गर्भाधान) से समस्त प्राणियों की सृष्टि होती है ।

सत्त्वंरजस्तम इति गुणाः प्रकृति सम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।। १४/५

महाबाहो ! सत्त्व, रजस्, तमस् प्रकृति से उत्पन्न ये गुण शरीरधारी अविनाशी (क्षेत्रज्ञ) को शरीर में बाँध लेते हैं ।[६] अर्थात् उस क्षेत्रज्ञ-जीवात्मा को आश्रय बनाकर ही ये गुण अपना स्वरूप प्रकट करने में समर्थ होते हैं ।

***

पाद टिप्पणी

१. शरीर रूप कार्य तथा इन्द्रियादि करणों के रूप में परिणत अविद्या रूप प्रकृति में स्थित पुरुष (क्षेत्रज्ञ जीवात्मा) प्रकृति को अपना स्वरूप मानता है इसीलिए प्रकृति से उत्पन्न हुए सुखदुःख मोह रूप में प्रकट गुणों को ' 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' '— ऐसा मानता हुआ भोगता है ।

२. शंकर की दृष्टि में प्रकृति में स्थित होना रूप अविद्या और गुणों में आसक्ति– ये दोनों संसार बन्धन के मूल हेतु हैं ।।

३. जो पुरुष (क्षेत्रज्ञ जीवात्मा) को साक्षात् आत्मा स्वरूप से –' 'यही मैं हूँ ' ' इस प्रकार जानता है तथा अविद्या रूप प्रकृति को भी अपने विकार रूप गुणों के सहित तत्त्वज्ञान से निवृत्त हुई जान लेता है वह विद्वान् जीवन्मुक्त होकर सब तरह व्यवहार करता है और शरीरपात हो जाने पर पुनः शरीर नहीं ग्रहण करता ।

४. महद्ब्रह्म– ' 'मम स्वभूता माया त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः योनिः सर्वभूतानां सर्वकार्येभ्यो महत्त्वाद् भरणात् च स्वविकाराणां । महद् ब्रह्म इति योनिः एव विशिष्यते ।' ' शां० भा०

मुझ परमेश्वर की माया त्रिगुणात्मिका प्रकृति समस्त भूतों की योनि-कारण है । समस्त कार्यों से यानी उत्पन्न वस्तुओं से बड़ी होने के कारण और अपने विकारों को धारण करने वाली होने से प्रकृति की ही 'महद्ब्रह्म' संज्ञा है ।

५. शांकर भाष्य के अनुसार उस महद् ब्रह्म रूप योनि में मैं, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ– इन दोनों प्रकृति रूप शक्तियों वाला ईश्वर, हिरण्यगर्भ के जन्म के बीज रूप गर्भ को स्थापित करता हूँ । उस गर्भाधान से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति द्वारा सारे प्राणियों की रचना होती है ।

६. किन लक्षणों से (यह पता चलता है कि पुरुष) इन तीनों गुणों के लिए पार चला गया है । उसका (त्रिगुणातीत पुरुष का) आचरण कैसा होता है ?

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽ धिगच्छति ।। १४/१६

जिस समय द्रष्टा (पुरूष) यह देखता है कि गुणों के अतिरिक्त अन्य कोई कर्ता नहीं है तथा गुणों से परे (तत्व को) जान लेता है तब वह मुझसे एक रूप हो जाता है ।

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।

किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ।। १४/२१

(अर्जुन ने पुछा कि) प्रभो ! वह कैसे आचरण वाला होता है ? तथा किस प्रकार(किस उपाय से) वह तीनों गुणों से परे हो जाता है ?

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः

सर्वारम्भ परित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।। १४/२४-२५

(भगवान समझाते हैं) जो दुःख-सुख में समान रहता है, जो अपने में मगन है, मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण जिसके लिए एक जैसे हैं, प्रिय और अप्रिय जिसके लिए बराबर हैं तथा निन्दा और अपनी स्तुति जिसके लिए एक जैसी है, जो धीर है जो मान और अपमान दोनों में समान रहता है तथा मित्र और शत्रु (दोनों पक्षों) के लिए समान है ।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्यब्रह्मभूयाय कल्पते ।। १४/२६

जो पुरूष मेरी (परमेश्वर की) कभी भी विचलित न होने वाली (अर्थात् निश्चल अनन्य) भक्तियोग के द्वारा सेवा करता है, वह इन गुणों को पूरी तरह से पार करके ब्रहमरूप[३] हो जाता है ।

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।। १५/१

ऊपर (जड़) तथा नीचे फैली शाखाओं वाला कभी न चुकने वाला इस (संसार वृक्ष) को अश्वत्थ

पाद टिप्पणी--

१. जन्मान्तर में किये हुए धर्म-अधर्म आदि के जो संस्कार मृत्यु के समय प्रकट होते है उनके समुदाय का नाम स्वभाव है, उससे उत्पन्न हुई श्रद्धा "स्वभावजा श्रद्धा" है । – शां० भा०

२. यहाँ आशय यह है कि सात्त्विकी श्रद्धा वाला मनुष्य सात्त्विक स्वभाव का होता है, राजसी श्रद्धा युक्त होने से राजस स्वभाव वाला होता है तथा तामसी श्रद्धा से अन्वित होने पर मनुष्य तामस स्वभाव का होता है अर्थात् श्रद्धा के अनुरूप ही उसका स्वभाव होता है ।

३. गीता के वाक्यांश ब्रह्मभूयाय कल्पते का शाब्दिक अनुवाद होगा ब्रह्मभूतता के लिए प्रस्तुत हो जाता है १। इसीलिए शं कर ब्र ह्मभू याय इत्यादि अं श की व्याख्या करते हैं कि वह पु रू ब्र ह्मा त्मी [illegible] होने के लिए अर्थात् मोक्ष पाने के लिए समर्थ हो जाता है ।

कहा जाता है । जिस (अश्वत्थ पीपल) के वेद पत्ते हैं, जो उस (संसार वृक्ष) को जानता है, वह वेद के तात्पर्य का ज्ञाता है ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।। १५/३

इसका रूप (जैसा यहाँ वर्णन किया गया है) वैसा उपलब्ध नहीं होता । इसका आदि (प्रारम्भ) और अन्त (नाश) नहीं है तथा इसकी सम्प्रतिष्ठा (आदि और अन्त के बीच की अवस्था) भी नहीं (उपलब्ध होती) है । इसलिये अत्यन्त गहरी जड़ों वाले [१] उस अश्वत्थ वृक्ष को अनासक्ति रूप मजबूत शस्त्र से काट कर ।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरूषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।। १५/४

तत्पश्चात उस स्थल को, खोज निकालना चाहिये जहाँ पहुँच कर पुरूष पुनः वापस नहीं लौटता (अर्थात् आवागमन चक्र से मुक्त हो जाते हैं) (और यह भावना करनी चाहिये कि) जिस से यह पुरातन प्रवृत्ति जन्मी है, उसी आदि पुरूष की मैं शरण हूँ ।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।। १५/७

जीव लोक (संसार) में जो जीवरूप (कर्ता, भोक्ता आदि नामों से प्रसिद्ध क्षेत्रज्ञ) हैं, वह मुक्त परमात्मा का ही सनातन अंश है । वही (जीवात्मा ही) प्रकृति में स्थिर हुई मन सहित छहों इन्द्रियों को (अपनी ओर) आकर्षित करता है ।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्त कृद्वेदविदेव चाहम् ।। १५/१५

मैं समस्त प्राणीमात्र के हृदय में सन्निविष्ट हूँ, और मुझ से ही स्मृति, ज्ञान और उनका अपोहन (लोप) होता है । सम्पूर्ण वेदों के द्वारा जानने योग्य तत्त्व मैं ही हूँ तथा मैं ही वेदान्त का कर्ता और वेत्ता हूँ ।।

पाद टिप्पणी--

१. यहाँ अभिप्राय यह है कि आदिपुरूष परमेश्वर वासुदेव ही नित्य अनन्त और सबके आधार होने के कारण 'ऊर्ध्वनाभ' कहे जाते हैं, वे मायापति ईश्वर ही संसार वृक्ष का मूल कारण हैं, अतः यह संसारवृक्ष 'ऊर्ध्वमूल' वाला है तथा महत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा आदि शाखा की भाँति नीचे की ओर फैली हैं अर्थात् सृष्टि के रूप में प्रकट हो रही है, अतः यह अश्वत्थवृक्ष 'अधःशाख' कहा जाता है । "न श्वः अपि स्थाता इति अश्वत्थः तं क्षणप्रध्वंसिनम् अश्वत्थं प्राहुः" (शां० भा०) अर्थात् कल तक भी स्थिर न रहने वाला क्षणभंगुर अश्वत्थ-वृक्ष अनादि काल से वर्तमान होने के कारण 'अव्यय' कहा जाता है ।
वस्तुतः भगवद्गीता में अश्वत्थ की इस धारणा का बीज कठोषनिपद् में मिलता है । मिलाइए-
ऊर्ध्वमूलोऽ वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।। कठ १.६

द्वाविमौ पुरूषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।। १५/१६

इस संसार में ये दो पुरूष हैं क्षर और अक्षर । (इनमें से) समस्त भूत (अर्थात् प्रकृति का सारा विकार) क्षर (नाशवान) और कूटस्थ अक्षर (अविनाशी) कहा जाता है ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरूषोत्तमः ।। १५/१८

क्योंकि मैं क्षर से परे हूँ और अक्षर से भी उत्तम हूँ इसीलिए मैं लोक में तथा वेद में 'पुरूषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूँ ।।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।। १६/२१

आत्मा का नाश करने वाले काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं, इसलिए इन तीनों को त्याग देना चाहिये ।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। १६/२३

जो मनुष्य शास्त्र विधान को छोड़कर मन माने ढंग से रहता है, वह न तो सिद्धि पाता है, और न ही परम गति (मोक्ष) ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।। १६/२४

इसलिए कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य की व्यवस्था (निर्माण) में तेरे लिये शास्त्र (का स्वधर्मपालन रूप आदेश) ही प्रमाण है । अतः शास्त्रविधि से कही गयी बात को समझकर तुझे यहाँ (कर्मक्षेत्र में) कर्म करना चाहिये ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ।। १७/१

(यह सुनकर अर्जुन ने पूछा कि) कृष्ण ! जो लोग शास्त्रविधि को छोड़कर केवल श्रद्धा से युक्त होकर (देवादि का) यजन करते हैं, उन लोगों की कैसी निष्ठा है ? सात्त्विक है अथवा राजस, या फिर तामस है ?

पाद टिप्पणी—

१. कूटस्थ- जो कूटराशि के समान स्थित है, अथवा 'कूट' माया का पर्याय है । माया अनेक प्रकार से स्थित होने से तथा अन्तरहित होने से 'अक्षर' कहा जाता है । भगवान की माया शक्ति क्षर पुरुष की उत्पत्ति का बीज है, तथा अनेक संसारी जीवों की कामना और कर्म आदि संस्कारों का आश्रय है अतः अक्षर पुरुष कहलाता है ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।। १७/२

(तब श्रीकृष्ण ने कहा) अर्जुन ! प्राणियों की वह स्वभावजन्य श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी-भेद से तीन प्रकार की होती है, तू उस (श्रद्धा) के विषय में सुन

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।। १७/३

भारत ! सभी प्राणियों की श्रद्धा सत्त्व (अर्थात् अन्तःकरण) के अनुरूप ही होती है । यह पुरुष श्रद्धामय है, (क्योंकि) जो जैसी श्रद्धा वाला है, वह (स्वयं भी) वही है ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।। १७/२८

श्रद्धा के बिना किया गया जो भी हवन, दान, तपस्या तथा स्तुति नमस्कारादि कर्म है (वह सब) असत् कहा जाता है । (क्योंकि) वह न तो इस लोक में और न ही मृत्यु के पश्चात् श्रेयस्कर होता है ।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।। १८/१

(अर्जुन ने पुनः पुछा कि) महाबाहो ! हृषीकेश ! केशिहन्ता ! मैं संन्यास और त्याग का स्वरूप अलग-अलग जनना चाहता हूँ ।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।। १८/२

(श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि कई) बुद्धिमान् लोग काम्य[1] कर्मों के त्याग 'संन्यास' समझते है और (कितने) पण्डित पुरुष समस्त कर्मों के फल का परित्याग करना (सर्वकर्म फलत्याग) ही 'त्याग' है, ऐसा कहते हैं ।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ।। १८/४

भरत श्रेष्ठ ! उस त्याग के विषय में तू मेरा निश्चय सुन । हे पुरुषश्रेष्ठ ! वह त्याग (सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद से) तीन प्रकार का कहा गया है ।

पाद टिप्पणी--

१. काम्य कर्म-- उसे कहते हैं, जो किसी कामना विशेष से 'फलप्राप्ति हेतु' किये जाते हैं । यथा अश्वमेध यज्ञ सार्वभौम अधिपत्य के लिए चक्रवर्ती सम्राट द्वारा सम्पन्न किया जाता है ।

'यथाश्वमेधः क्रतुराट सर्वपापापनोदनः ।'' मनुस्मृ० ११/२६१

अथवा जयोतिष्टोम याग स्वर्ग प्राप्ति की अभिलाषा से किया जाता है- 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्ग कामः'

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।। १८/७

(स्वधर्म के अनुकूल) नियत (निश्चित) कर्मों का संन्यास (यानी परित्याग) तो सम्भव ही नहीं हो सकता, अतएव मोह से किया जाने वाला (नियत कर्मों का) परित्याग 'तामस' कहलाता है ।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।। १८/८

काया को कष्ट होने के डर से ही 'कष्टकारी है' यह सोचकर कोइ
जिस कर्म को त्याग दे तो वह व्यक्ति त्याग करके त्याग का फल नहीं पाता ।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।। १८/९

अर्जुन ! 'यह कर्त्तव्य है' -- ऐसा समझ कर जो नियत कर्म आसक्ति और फल को छोड़कर सम्पन्न किये जाते हैं वह (त्याग) सात्त्विक त्याग माना गया है ।

न हि देहभृतां शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।। १८/११

क्योंकि प्राणियों के द्वारा समस्त कर्मों का पूर्णत त्याग किया जाना सम्भव नहीं है, इसलिए जो कर्मों के फल का त्याग कर देता है [२] वह 'त्यागी' कहलाता है ।

पञ्चेमानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।। १८/१३

हे महाबाहो ! सारे कर्मों की सिद्धि केलिए ये पाँच कारण सांख्यों के सिद्धान्त [३] में बताये गये हैं । उन्हें तू मुझसे भलीभाँति जान ले ।

टिप्पणी--

१. अभिप्राय यह है कि कर्त्तव्य नियत कर्मों को स्वरूप से न त्यागकर उन कर्मों में निहित आसक्ति और फल को त्यागना ही 'सात्त्विक त्याग' माना गया है ।

२. कर्मफलत्यागी-- जो तत्त्वज्ञान रहित अधिकारी नित्य कर्मों का अनुष्ठान करते हुए उन कर्मों के फल की वासना मात्र को छोड़ देता है वह कर्म करने वाला होने पर भी स्तुति के अभिप्राय से 'त्यागी' कहा जात है ।

३. सांख्ये कृतान्ते-- जिस शास्त्र में जानने योग्य पदार्थों की संख्या अर्थात् गणना की जाये उसका नाम संख्य है । 'कृतान्त' भी उसी का विशेषण है - 'कृत' कर्मों की जहाँ समाप्ति हो जाती है वह कृतान्त 'संख्य सिद्धान्त' कहा जाता है ।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।। १८/१४

(ये हेतु) अधिष्ठान[1] (आश्रय शरीर), कर्ता[2], पृथक्-पृथक् करण और विभिन्न प्रकार की चेष्टायें[3] एवं पाँचवा हेतु दैव[4] है ।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ।। १८/१५

मन वाणी और शरीर के द्वारा मनुष्य जो कुछ धर्मसम्मत अथवा विपरीत (यानि निषिद्ध) कर्म करता है, उन सब (कर्मों) के उपर्युक्त पाँचों (अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा तथा दैव) ही कारण बनते हैं ।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।। १८/१८

ज्ञान[5], ज्ञेय[6], तथा ज्ञाता ये तीनों तो कर्म की प्रेरणाएँ[7] हैं । करण[8], कर्म[9] तथा कर्ता[10] ये तीन प्रकार के कर्म (कर्मसंग्रह)[11] हैं ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैर्गुणैः ।। १८/४१

हे शत्रुतापी ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के कर्म स्वभावजन्य गुणों के अनुसार अलग अलग बँटे हुए हैं ।

पाद टिप्पणी--

१. इच्छाद्वेषसुख-दुःख और ज्ञान आदि के प्रकाशन का आश्रय शरीर 'अधिष्ठान' है ।
२. उपाधियुक्त भोक्ता जीव ही 'कर्ता' है ।
३. भिन्न-भिन्न शब्द आदि विषयों का ग्रहण करने वाले श्रोत्रादि बारह 'करण' तथा नाना प्रकार की श्वास-प्रश्वास आदि अलग-अलग वायु सम्बन्धी क्रियायें ही 'चेष्टा' कहे जाते हैं ।
४. चक्षु आदि इन्द्रियों के अनुग्राहक सूर्यादि देव ही 'दैव' हैं ।
५. ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम् - जिसके द्वारा जाना जाय वह साधनभूत तत्त्व 'ज्ञान' है ।
६. ज्ञेय - जानने योग्य तत्त्व
७. चोदना - चुद् प्रेरणे करणार्थ ल्युट् प्रत्यय होकर 'चोदना' पद निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है 'प्रेरित करना'।
८. करण - जिसके द्वारा कर्म किया जाये वह साधन 'करण' है ।
९. जो कर्ता को सर्वाधिक अभीष्ट हो और क्रिया द्वारा सम्पादित हो, वह कर्म है ।
१०. कर्ता - श्रोत्रादि करणों को अपने - अपने कार्य व्यापार में नियुक्त करने वाला तथा कर्म फल का भोक्ता जीव ही करता है ।
११. कर्म संग्रह : "संगृह्य ते अस्मिन् इति संग्रहः कर्मणः संग्रहः कर्मसंग्रहः । कर्म एषु हित्रिषु समवैति तेन अयं त्रिविधः कर्म संग्रहः ।" (शां० भा०) अर्थात् इन तीनों -- कर्ता, कर्म, करण में ही कर्म संगृहीत हैं अंत तीन प्रकार का 'कर्मसंग्रह' है ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।। १८/४५

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों में तत्पर मनुष्य सम्यक सिद्धि प्राप्त करता है । अपने-अपने कर्मों में लगा हुआ मनुष्य जैसे सिद्धि पाता है, उसे सुन !

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।। १८/४७

अपना गुण रहित भी धर्म दूसरे के भली भाँति अनुष्ठान किये हुए धर्म से बढ़कर है । स्वभाव से नियत (निश्चित) किए गए कर्मों को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता ।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।। १८/४८

कुन्तीपुत्र ! जो सहज (जन्म के साथ ही उत्पन्न हुए) कर्म हैं वे भले ही दोषयुक्त हों (किन्तु उन स्वाभाविक कर्मों) को नहीं त्यागना चाहिये । क्योंकि सारे कर्म (आरम्भ) धुएँ से आवृत अग्नि के समान दोष से आच्छादित हैं ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।। १८/४९

जो सब जगह आसक्ति शून्य बुद्धि वाला, जितेन्द्रिय तथा तृष्णा से रहित है वह पुरुष परम नैष्कर्म्य (अर्थात् निष्काम कर्मरूप) सिद्धि को (कर्मफल) संन्यास के द्वारा ही प्राप्त कर लेता है ।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।। १८/५०

कुन्तीपुत्र ! सिद्धि को प्राप्त[२] पुरुष जैसे ब्रह्म, जो ज्ञान की परम निष्ठा है, को पाता है, उसे (ज्ञान निष्ठा प्राप्ति के क्रम की विधि) तू मुझसे संक्षेप में समझ ।

अहंकार बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहणम् ।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। १८/५३

वह पुरुष अहंकार[३], बल[४], दर्प, काम, क्रोध तथा परिग्रह (भोग सामग्री के संग्रह) को त्याग

टिप्पणी--

१. तात्पर्य यह है कि 'स्वधर्म' रूप सहजकर्म का परित्याग करने से और परधर्म का ग्रहण करने से भी दोष से छुटकारा नहीं मिल सकता और परधर्म भयावह भी होता है तथा अज्ञानी के द्वारा सारे कर्मों का पूर्ण तरह से त्याग हो पाना भी सम्भव नहीं है, अतएव सहज कर्म नहीं छोड़ना चाहिये ।

२. अपने कर्मों द्वारा ईश्वर की पूजा करके उसकी कृपा से उत्पन्न हुई शरीर और इन्द्रियों की ज्ञान निष्ठा प्राप्ति की योग्यता रूप सिद्धि को प्राप्त होना । (शां० भा० के अनुसार)

३. अहंकार - शरीर इन्द्रियादि में अहंभाव होना

४. बल - कामना एवं आसक्ति से युक्त सामर्थ्य 'बल' कहा जाता है ।

कर ममता रहित और शान्त मन वाला होकर ब्रह्म रूप (अर्थात् ब्रह्म में एकीभाव से स्थित) होने के लिए योग्य (यानी समर्थ) हो जाता है ।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न चकाङ्क्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।। १८/५४

ब्रह्म को प्राप्त (अर्थात् ब्रह्मत्मैक्यभाव में स्थित) हो जाने पर प्रसन्नात्मा (अर्थात् अध्यात्म प्रसाद से युक्त) पुरुष न शोक करता है, और न ही कामना करता है (तथा) सब प्राणियों में सम होकर वह ज्ञान निष्ठा मेरी पराभक्ति[1] (सर्वोत्तम भक्ति) को पाता है ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।। १८/५५

वह (ज्ञानी) पुरुष (ज्ञान लक्षण) भक्ति के द्वारा मुझे मैं जितना हूँ तत्त्वतः जान लेता है और जो हूँ'' इस तरह से (ततः) मुझे वास्तविक रूप से जानकर तदनन्तर मुझमें ही प्रवेश कर जाता है ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।। १८/६१

अर्जुन ! समस्त प्राणियोंको यन्त्र पर चढ़ी हुई (कठपुतलियों की भाँति)) अपनी माया से घुमाता हुआ ईश्वर सारे प्राणियों के हृदय देश में स्थिर रहता है (अर्थात् ईश्वर सारे प्राणियों को कठपुतली की भाँति नचा रहा है) ।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।। १८/६२

भारत ! तू पूरे मन से (अनन्यशरणागत भाव से) उसी की शरण में जा । उस के अनुग्रह से तू परम शान्ति तथा शाश्वत् स्थान (नित्यधाम) को प्राप्त कर लेगा ।

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रणु मे परमं वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।। १८/६४

एक बार फिर सबसे अधिक गोपनीय अंतिम बात को सुन । तू मुझे (बहुत) प्रिय है, इस लिए तेरे परम (दृढ़) कल्याण की बात कहने जा रहा हूँ ।

पाद टिप्पणी--

१. परांभक्तिम् - 'परमां उत्तमां ज्ञान लक्षणां चतुर्थी भक्तिं 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इति उक्तम् ।'' (शां० भा०) अर्थात् चार प्रकार की भक्ति पूर्व प्रतिपादित की गयी-- आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी - इन चारों में जो अन्तिम अर्थात् ज्ञानलक्षणा भक्ति है वह सर्वोत्तम कोटि की मानी गयी है ।

२. 'मैं जितना हूँ' यानी उपाधि कृत विस्तार भेद से जितना हूँ और 'जो हूँ' यानि वास्तव में समस्त उपाधिभेद से रहित, उत्तमपुरुष आकाशवद् सर्वव्यापी, अज, अद्वैत, अजर, अमर एवं अभय, अनन्त मुझको यथार्थ रूप से जान लेता है ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।१८/६६

सारे धर्मों को छोड़कर तू केवल एकमात्र मेरी शरण में आ जा [१]। मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, (अतएव) तू सोच मत कर ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।। १८/७३

(भगवान कृष्ण के तत्त्व ज्ञान से परिपूर्ण वचनों को सुनकर अर्जुन ने कहा कि) हे अच्युत ! मेरा मोह [२] नष्ट हो गया है और आपके अनुग्रह से कर्तव्य की स्मृति भी हो आयी है । मुझे कोई सन्देह नहीं रह गया है । (अब) मैं आपकी बात का पालन करूँगा ।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।

संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।। १८/७४

(श्रीकृष्ण और अर्जुन के पारस्परिक तत्त्वज्ञान विषयक संवाद को धृतराष्ट्र से बताकर संजय बोला) इस प्रकार वासुदेव और महात्मा अर्जुन का रोममांचित कर देने वाला यह अद्भुत संवाद मैने सुना ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिमतिर्मम ।। १८/७८

(संजय ने कहा राजन् !) मेरा मत है कि जहाँ योगिराज कृष्ण और धनुर्धारी अर्जुन हैं व वहीं श्री, विजय ऐश्वर्य और अचल नीति है ।

।। इतिशम् ।।

पाद टिप्पणी--

१. तात्पर्य यह है कि मैं ही सब प्राणियों की आत्मा हूँ, मुझसे अन्य कुछ है ही नहीं - ऐसा निश्चय करके अनन्य भाव से मेरी शरण में आ जाओ ।

२. संसार रूप अनर्थ का कारणभूत मोह यानी चित्त का विमूढभाव ।